

द्वितीय विश्व युद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय
स्थिति और नवम्बर क्रांति की शिक्षाएं

शिवदास घोष

द्वितीय विश्व युद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति और नवम्बर क्रांति की शिक्षाएं

जब दूसरे विश्वयुद्ध के बाद की स्थिति में विश्व भर के शोषित जनसाधारण के मुक्ति आन्दोलन अंतिम विजय की ओर बढ़ते हुए प्रतीत हो रहे थे, तब अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के नेतृत्व में संशोधनवाद के कपटपूर्ण व घातक उभार ने इस संभावना को एक दर्दनाक आघात में परिणत कर डाला। लेकिन यह कैसे हो सका? इस लेख में इस सब के मूल कारण का विस्तृत विश्लेषण और संशोधनवाद के खतरे से लड़ने के तरीकों व साधनों को बताया गया है।

इस साल हम नवम्बर क्रांति दिवस बहुत सारी गंभीर व महत्वपूर्ण घटनाओं के बीच मना रहे हैं। आप जानते हैं कि सामान्य रूप से अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति और विशेष रूप से दूसरे विश्वयुद्ध के बाद की अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति ने विश्व के शोषित जनसाधारण के मुक्ति-संग्राम के सामने विशाल संभावनाएं प्रकट कर दी थीं। लेकिन तभी से लगातार बिगड़ते जाने की वजह से स्थिति आज ऐसे दर्दनाक मुकाम पर पहुंच चुकी है जिसे आप भी शिद्दत से महसूस कर रहे होंगे। इस महान अवसर पर, नवम्बर क्रांति की शिक्षाओं व लक्ष्यों तथा मनुष्य जाति और शोषित जनसाधारण के सामने उसके द्वारा कायम की गयी शानदार मिसाल के परिप्रेक्ष्य में, एक दफा फिर मैं यह विश्लेषण करना जरूरी समझता हूं कि यह सब आखिर कैसे हो सका?

आज शोषित जनसाधारण के मुक्ति संग्राम एक अत्यंत पेचीदा व नाजुक दौर से गुजर रहे हैं। अपने विशिष्ट क्रम में विभिन्न देशों के शोषित जनसाधारण के संघर्ष के स्वरूप में चाहे जो भी भिन्नता या विशिष्टता और घुमाव-फिराव क्यों न हो, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि आज हरेक देश में जन आन्दोलन एक अत्यंत नाजुक स्थिति से दो-चार है। उन देशों में, जहां क्रांति अभी तक सम्पन्न नहीं हुई है, अर्थात् जहां मजदूर व किसान अभी तक सत्तासीन नहीं हुए हैं, स्थिति के अनुसार जहां मजदूर वर्ग के नेतृत्व में समाजवादी क्रांति या जनता की जनवादी क्रांति विजयी

नहीं हुई है और उन देशों में, जो राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए, स्वाधीन सम्प्रभु राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना के लिए साम्राज्यवाद के खिलाफ लड़ रहे हैं, आज आन्दोलन प्रतिक्रियावादी षड्यंत्रकारी गिरोहों के प्रचंड प्रतिक्रांतिकारी हमले के शिकार हैं। इस सबके लिए क्या चीज जिम्मेदार है? उसकी प्रकृति क्या है? आइए, इन सवालों की गहराई से विवेचना करें।

क्रांतिकारी आन्दोलनों के लिए जबरदस्त संभावनाएं खुल गयी थीं

दूसरे विश्वयुद्ध के बाद की अवधि में, साम्राज्यवादी खेमे के समानांतर एक विश्व व्यवस्था के रूप में या राज्यों की एक व्यवस्था के रूप में समाजवादी खेमे के आविर्भाव ने, साम्राज्यवाद के कमजोर होने और बहुत देशों द्वारा साम्राज्यवाद के नियंत्रण से राष्ट्रीय स्वतंत्रता की प्राप्ति ने एवं इन नव-स्वाधीन उभारशील राष्ट्रवादी देशों में राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना ने, और इससे भी ज्यादा विशेष रूप से एशिया, अफ्रीका व लेटिन अमेरिका के बहुत-से देशों में राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम के बढ़ते हुए जन-अभ्युत्थान की हिलोरों ने विश्व रंगमंच पर एक ऐसी स्थिति पैदा कर दी थी कि बहुतों को लगने लगा था कि साम्राज्यवाद-पूंजीवाद के दिन लद गये हैं। ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो मजदूर वर्ग के सपने, शोषित जन-साधारण की आशा-आकांक्षाएं विभिन्न देशों में क्रांति की एक के बाद एक विजयों के परिणामस्वरूप पूरी होने ही वाली हैं। दूसरे विश्व युद्ध के बाद की अवधि में अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति ने वस्तुतः शोषित जनसाधारण के मुक्ति संग्रामों के सामने ऐसी शानदार संभावनाएं खोल दी थीं।

यदि अकेले सोवियत संघ को ही लें, तो भी उस समय वह शक्ति में दुर्जेय था। सामरिक, राजनीतिक व आर्थिक दृष्टि से उसकी सर्वोच्चता संदेहातीत थी। ऐसा प्रतीत होता था कि सोवियत संघ अकेले ही साम्राज्यवादी खेमे की संयुक्त ताकत से लोहा लेने के लिए काफी ताकतवर था। दूसरे, चीन में क्रांति के माध्यम से नव जनवादी राज्य की स्थापना के बाद 70 करोड़ लोगों का यह देश अपनी अभेद्य शक्ति के साथ समाजवादी खेमे में मिल गया था। इसके अतिरिक्त, पूर्वी यूरोप, मंगोलिया, उत्तर कोरिया, उत्तर वियतनाम आदि के जनता की जनवादी देशों ने संयुक्त रूप से भूमंडल के एक विशाल हिस्से पर विश्व समाजवादी खेमे की स्थापना में योगदान दिया था। फलस्वरूप, न सिर्फ विश्व शक्तियों का संतुलन बदल गया था, बल्कि साम्राज्यवाद की लम्बे अरसे से स्थापित एकछत्र एवं समग्र प्रधानता भी पूरी

तरह टुकड़े-टुकड़े हो गयी थी और यूं कहिए कि साम्राज्यवाद को पूरी तरह कोने में धकेल दिया गया था। पूंजीवादी-साम्राज्यवादी देशों में यौवनोदीप्त तरुणों के दम-खम को लेकर स्पंदित विश्वव्यापी जनवादी आन्दोलन कदम-ब-कदम अंतिम विजय की तरफ सुदृढ़ रूप से आगे बढ़ते हुए दिखाई दिये थे। वास्तव में ही विश्व भर में अभूतपूर्व आयाम के जनवादी जन आन्दोलनों का अभ्युत्थान हुआ था। तभी यकायक एक विचित्र बात घटित हो गयी।

साम्राज्यवादी साजिशों को विफल करना सोवियत संघ का फर्ज

स्वाभाविक रूप से सोवियत संघ ही विश्व के साम्राज्यवाद-विरोधी, पूंजीवाद-विरोधी, अमनपसंद व स्वाधीनता-पसंद लोगों की दृष्टि में समाजवादी खेमे के नेता के रूप में मौजूद था। मार्क्सवाद-लेनिनवाद पर आधारित पहला मजदूर वर्ग का राज्य और लेनिन व स्तालिन के हाथों निर्मित एवं पालित-पोषित होने के नाते, उसे पूरे विश्व के लोगों का दृढ़ एवं अटल विश्वास तथा उच्च आदर-सम्मान हासिल था। यह स्वाभाविक ही था कि समाजवादी खेमे को सोवियत संघ ही नेतृत्व प्रदान करता। तब साम्राज्यवादी युद्ध-षड्यंत्रों के खिलाफ समाजवादी खेमे के शांति आन्दोलनों के साथ विभिन्न देशों के जन आन्दोलनों को संयोजित-समन्वित करना भी उसी का फर्ज था। समाजवादी खेमे के नेता की हैसियत से सोवियत संघ का मुख्य दायित्व एक ओर साम्राज्यवाद द्वारा 'न्यूक्लियर (यानी नाभिकीय) ब्लैकमेलिंग' के खिलाफ विश्व शांति की गारंटी के रूप में सक्षम न्यूक्लियर शस्त्र-अस्त्रों में साम्राज्यवादी खेमे पर समाजवादी खेमे की सापेक्ष श्रेष्ठता को बरकरार रखना था और दूसरी ओर, न सिर्फ साम्राज्यवादियों की 'न्यूक्लियर ब्लैकमेलिंग' या 'न्यूक्लियर युद्ध धमकियों' के असली चेहरे को बेनकाब करना था, बल्कि समूचे विश्व-भर में यहां-वहां स्थानीय व आंशिक युद्ध संचालित करने की, एक देश को युद्ध में उलझाने हेतु दूसरे के खिलाफ उसे उकसाने-भड़काने की दुष्टतापूर्ण अमेरिकी नीति और 'प्रलोभन' व हिंसा की उसकी नीति और विभिन्न देशों की सेनाओं में सी.आई.ए. द्वारा समर्थित पिट्टुओं के द्वारा तख्ता-पलट के जरिये दूसरे देशों के अंदरूनी मामलों में बेलगाम हस्तक्षेप की इसकी नीति का भी भंडाफोड़ करना था। सिर्फ इतना ही नहीं, इस खतरे एवं धमकी के खिलाफ एकताबद्ध प्रतिरोध करने की गरज से समाजवादी खेमे की शक्ति को पूरी तरह संघटित तथा सुदृढ़ करना

भी समाजवादी खेमे के नेता के रूप में, सोवियत संघ की ही जिम्मेदारी बनती थी। सोवियत संघ का सर्वोपरि फर्ज साम्राज्यवाद के खिलाफ न सिर्फ एक नैतिक विरोध प्रकट करना था, बल्कि दृढ़ निश्चय के साथ सक्रिय प्रतिरोध के लिए आगे आना और इसे निर्मित करना भी था ताकि किसी भी कीमत पर दुष्टतापूर्ण साम्राज्यवादी षड्यंत्रों को नाकाम किया जा सके।

दूसरे विश्वयुद्ध से पहले, समाजवादी खेमे द्वारा साम्राज्यवादी युद्ध षड्यंत्रों के खिलाफ बुलंद किए गये इस नारे का कि "हम शांति चाहते हैं" सिवाय कुछ वैचारिक व नैतिक प्रभाव के, अमली तौर पर कोई वास्तविक महत्व नहीं था। यह नारा सिर्फ एक नैतिक व मानवतावादी अपील थी, मगर विश्व शांति सुनिश्चित करने हेतु उसकी पर्याप्त ताकत नहीं थी। उस समय सिर्फ सोवियत संघ ही विश्व में एकमात्र समाजवादी देश के रूप में मौजूद था। फलस्वरूप वह दूसरों का इस ओर ध्यान दिलाने में असमर्थ था। तब विश्वयुद्धों की जननी साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था में अंतर्निहित द्वन्द्वों एवं अंतर्विरोधों यानी कि साम्राज्यवादियों के स्वार्थ ही विश्व में घटनाओं की दिशा को निर्धारित करते थे, साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था व राजनीति का स्वार्थ या जरूरत ही असल में अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में शांति कायम रहने की अवधि एवं युद्ध छिड़ने के मुहूर्त ही निर्णायक रूप में कार्य करते थे। इसलिए सोवियत संघ द्वारा विश्व शांति के उद्देश्य हेतु शांति के लिए प्रेरणा प्रदान करना एवं इस दिशा में एक नैतिक प्रभाव डालना ही संभव था। दरअसल सोवियत संघ के पास उस समय साम्राज्यवाद पर शांति थोपने, उनके युद्ध षड्यंत्रों का प्रतिरोध करने और उन्हें नाकाम करने या युद्ध या शांति के बारे में निर्णय लेने हेतु साम्राज्यवाद पर कारगर असर डालने लायक पर्याप्त शक्ति ही नहीं थी।

"शांति कायम रखना" कहने से मेरा आशय सिर्फ वह परिस्थिति बनाए रखने से है जिसमें देशों के बीच कोई युद्ध न हो सके। आया कि यह विश्व शांति कायम रखी जाएगी या एक युद्ध, मतलब विश्वयुद्ध छिड़ जायेगा—यह दूसरे विश्वयुद्ध तक साम्राज्यवादियों द्वारा ही निर्धारित किया जाता था। इसी वजह से लीग ऑफ नेशन्स ज्यादा दिन नहीं टिक पायी। उस समय सोवियत संघ की जोरदार अपीलें-आवेदनों पर कोई भी तनिक ध्यान एवं महत्त्व नहीं देता था। लेकिन दूसरे विश्वयुद्ध के बाद, समाजवादी देशों से निर्मित एक शक्तिशाली विश्व समाजवादी खेमे का उदय हो गया और साम्राज्यवाद को विश्व के विशाल इलाकों से अपना बोरिया-बिस्तर बांधकर

चलते बनना पड़ा। इसी वजह से, तब से साम्राज्यवाद अधिक संकट-ग्रस्त हो गया। दूसरे विश्वयुद्ध से पहले के साम्राज्यवादी-पूँजीवादी देशों में तीव्र आर्थिक संकट इस युद्ध के जरिये हल नहीं हुआ—जिस आर्थिक संकट के फलस्वरूप बाजार पर आधिपत्य के लिए वे एक-दूसरे के साथ लड़ाई-झगड़ों में उलझ गये थे, जो इस युद्ध का कारण बना। उल्टे, इस युद्ध ने पूँजीवादी बाजार संकट को और भी ज्यादा तीव्र बना दिया, क्योंकि तत्कालीन विश्व साम्राज्यवादी-पूँजीवादी बाजार विश्व समाजवादी खेमे के आविर्भाव के बाद काफी हद तक सिकुड़ गया था। समाजवादी खेमे के आविर्भाव के साथ सोवियत संघ के सिवा, इसमें शामिल सभी देश, जो पहले साम्राज्यवाद-पूँजीवाद के नियंत्रण में थे, अब विश्व पूँजीवादी बाजार के दायरे से बाहर चले गये। इसका परिणाम क्या हुआ? खैर, जब समूचा विश्व ही साम्राज्यवादियों-पूँजीपतियों द्वारा लूट का बाजार था, उस समय भी साम्राज्यवादी-पूँजीवादी बाजार के संकट के कारण एक नहीं, बल्कि दो-दो साम्राज्यवादी युद्ध हो चुके थे, युद्ध के बाद अब इस बाजार के और ज्यादा सिकुड़ने की वजह से बाजार को लेकर साम्राज्यवादियों के बीच लड़ाई-झगड़ों ने और भी ज्यादा तीव्र रूप धारण करना शुरू कर दिया है।

इस प्रकार एक नया कारक और जुड़ गया। एशिया व अफ्रीका के नव-स्वाधीन देशों ने अपनी-अपनी क्षमताओं के अनुसार पूँजी व उद्योगों को सुदृढ़ करने के लिए जी-तोड़ कोशिश शुरू कर दी और नये प्रतियोगियों के रूप में पहले ही संकुचित विश्व साम्राज्यवादी-पूँजीवादी बाजार में घुसने के लिए वे प्रयास करने लगे। एक तरफ विश्व बाजार में अपने प्रभाव का विस्तार करने हेतु उनके अपने-अपने प्रयासों को केंद्रित करके इन नव-स्वतंत्र उभारशील देशों के बीच जहां प्रतियोगिता थी, वहीं दूसरी ओर, इनमें पारंपरिक साम्राज्यवादी-पूँजीवादी देशों के मुकाबले एकताबद्ध व संयुक्त विरोध पेश करने हेतु अपने अंदर एकता पर पहुंचने के लिए निश्चित चेष्टाएं भी देखी जा सकती थीं। एकता के लिए इस प्रयत्न के फलस्वरूप 'एफ्रो एशियन सॉल्लिडैरिटी ऑर्गेनाइजेशन, 'बांडुग कान्फ्रेंस', 'कोलम्बो कान्फ्रेंस' आदि के माध्यम से इन नव-स्वतंत्र उभारशील राष्ट्रवादी देशों ने आर्थिक क्षेत्र में साम्राज्यवाद की प्रतियोगिता व चुनौती का मुकाबला करने हेतु अपनी आर्थिक शक्ति और संसाधनों को संयोजित करने के लिए एक प्रकार का संयुक्त मोर्चा गठित किया। क्योंकि सिर्फ आर्थिक शक्ति पर ही यह एकता अर्जित करना संभव नहीं था, इसलिए बड़े साम्राज्यवादी देशों

के आधिपत्य और नियंत्रण से अपने को पूर्णतः मुक्त रखते हुए उन्होंने एक अनुकूल साम्राज्यवाद-विरोधी राजनीतिक परिवेश पैदा करने की कोशिश की, बाजार में आपसी सहयोग के माध्यम से अपनी आर्थिक शक्ति व औद्योगिक विकास को बढ़ाने की कोशिश जारी रखी।

उस समय अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति ऐसी थी कि इस चेष्टा के साथ-साथ एक युद्ध-विरोधी आवाज भी उठायी गयी और साम्राज्यवादी देशों तक में भी जनवादी आन्दोलन को निर्मित करने की जरूरत के बारे में चेतना विकसित हो रही थी। दूसरे विश्वयुद्ध की समाप्ति के फौरन बाद शायद यह अमेरिकी साम्राज्यवाद के युद्धोन्मुखी तेवरों तथा युद्ध-धमकियों के खिलाफ प्रतिक्रिया थी। ऐसी स्थिति पहले विश्वयुद्ध के बाद पैदा नहीं हुई थी, पहले विश्वयुद्ध के बाद लम्बे अरसे तक विश्वभर में एक शांति-कामी मनोभाव एवं रवैया अवश्य मौजूद था। शांति के प्रति आग्रह एवं ललक ही लीग ऑफ नेशन्स के निर्माण का कारण बनी थी। हालांकि इस दफा संयुक्त राष्ट्र संघ (UNO) के जन्म के ठीक शुरू से ही, अमेरिका का जंगखोर रवैया साफ तौर पर दिखाई देता था जिसमें तमाम पूँजीवादी देश एक साथ उसके पक्ष में हों। अमेरिका को ऐसे एक नये युद्ध की जरूरत थी; वरना उसकी अर्थव्यवस्था को और आगे टिकाए एवं जीवित नहीं रखा जा सकता था। हालांकि इस विषय पर एक लंबी चर्चा की जरूरत है, लेकिन आज मैं इस पर विस्तृत चर्चा में नहीं जा सकता हूं। हालांकि आपको समझने में मदद करने के लिए मुझे इस पर संक्षिप्त चर्चा करनी ही चाहिए।

अर्थव्यवस्था का सैन्यीकरण

मोटे तौर पर, बात यह है कि अमेरिकी अर्थव्यवस्था एक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था है और उसकी समस्या अतिरिक्त पूँजी की समस्या अर्थात् अतिरिक्त वित्तीय पूँजी की समस्या है। आपको पता ही है कि पूँजी निटल्ली नहीं रह सकती। एक आम आदमी को इस बारे में जानकारी नहीं भी हो सकती है, लेकिन अर्थशास्त्र के छात्रों को इसकी जानकारी होनी चाहिए। यदि आप नहीं जानते हैं, तो इसे इस प्रकार समझने का प्रयास करें—पूँजी एक ऐसी चीज है जो निटल्ली नहीं रह सकती है। 'श्रीमती पूँजी' खाली-बेकार बैठी नहीं रह सकती। यदि वह खाली बैठ जाये तो वह निश्चित रूप से कोई शरारत या हानि करेगी ही। पूँजी के लिए हमेशा गति में रहना जरूरी है। यदि पूँजी बेकार पड़ी रहे तो क्या हानि होती है? यह

मुद्रास्फीति की प्रवृत्ति पैदा करती है, जब पण्य-मालों की कीमतें तेजी से बढ़नी जारी रहती हैं। इसका कारण यह है कि यदि पूंजी का निवेश नहीं किया जाता है, तो उत्पादन नहीं बढ़ता है। फलस्वरूप जब मुद्रा के चलन या सर्कुलेशन के मुकाबले उत्पादन कम होता है, तो मुद्रा की कीमत तेजी से नीच गिर जाती है। अगर हानि की पूर्ति करने हेतु आम लोगों की आय बढ़ती रहती है, तो इस तीव्र गिरावट से कोई ज्यादा फर्क नहीं पड़ता है। लेकिन पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में, आम लोगों की आय उस अनुपात में बढ़ ही नहीं सकती है। इसमें संदेह नहीं कि रुपयों की गिनती के हिसाब से तो उनकी आय किंचित बढ़ जाती है, लेकिन फिर भी वास्तविक आय तो बढ़ती नहीं, बल्कि उल्टे कम हो जाती है। अगर मुद्रास्फीति खतरनाक आयाम ग्रहण कर ले, तब पण्य मालों की कीमतों में बहुत ज्यादा वृद्धि हो जाती है और लोगों का जीना दूभर हो जाता है। अतिरिक्त मुद्रा के संचय एवं अम्बार का अर्थ है कि उद्योग में निवेश का गतिपथ अवरुद्ध हो गया है। जब मामला वैसा हो जाता है, तो उत्पादन में अनिवार्य रूप से गिरावट आ जाती है। यह बेरोजगारी की समस्या को अपरिहार्य रूप से बढ़ाएगी। इसके अलावा, जनसंख्या में वृद्धि एक अतिरिक्त समस्या बनी रहती है। यदि हम तर्क के लिए मान भी लें कि जनसंख्या निरंतर उतनी ही रहती है, तब भी, मौजूदा जनसंख्या के स्तर के कारण भी, बेरोजगारी की समस्या तो और भी ज्यादा भीषण होती जायेगी।

इसका कारण यह है कि उत्पादन लम्बे अरसे तक एक निश्चित स्तर पर थमा नहीं रह सकता है। अगर उत्पादन न बढ़े तो, उसका कम होना अवश्यंभावी है, क्योंकि पूंजीवादी व्यवस्था के अन्दर 'बाजार' में मांग या तो बढ़ती है या घटती है। इसके अतिरिक्त पूंजीवादी व्यवस्था में, यह मांग मनुष्य की वास्तविक जरूरतों के पैमाने द्वारा निर्धारित नहीं की जाती है, बल्कि उल्टे एक मनुष्य की 'जरूरतें' उसकी क्रय-शक्ति के द्वारा निर्धारित की जाती हैं। उसकी 'जरूरतें' उसकी आमदनी और बाजार कीमतों के अनुसार उसकी क्रय क्षमता को ध्यान में रखकर ही तय की जाती हैं। इसके अतिरिक्त, जब उत्पादन में गिरावट आती है तो पण्य-मालों की कीमतें आकाश छूने लगती हैं और कम-आय ग्रुप के लोगों और बेरोजगारों की क्रय-शक्ति कुदरतन और भी ज्यादा कम हो जाती है। इसलिए, बाजार अधिकाधिक सिकुड़ता एवं कम होता जाता है। यही वजह है कि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के नियम के अनुसार दूसरे देशों में पूंजी निवेश के रास्ते खुले

रहने चाहिए। दूसरे एक पूंजीवादी देश में चाहे जितने भी उद्योग, चाहे जो भी रोजगार के अवसर क्यों न हों, वे तमाम लोगों को नौकरियां एवं रोजगार प्रदान नहीं करा सकते हैं। लेकिन न ही वे बेरोजगारों से भरे हुए समूचे देश की स्थिति को स्वीकार कर सकते हैं, क्योंकि यह स्वीकृति उनके संकट को और भी भीषण बना देगी। इसलिए, जब वे पर्याप्त औद्योगीकरण के सामान्य तरीके से उत्पादन नहीं बढ़ा सकते हैं तब तमाम पूंजीवादी देशों की अर्थव्यवस्थाओं में आयुधों और युद्ध के साजो-सामानों के लिए एक आग्रह एवं उद्योगों के सैन्यीकरण की एक प्रवृत्ति दिखाई देने लगती है। इसका लाभ यह है कि इस कदम से चाहे अस्थायी तौर पर ही सही, बाजार में कृत्रिम तेजी एवं उद्दीपन पैदा करना संभव है। क्योंकि बाजार में एक उछाल के बगैर उद्योग चालू रह ही नहीं सकते, उत्पादन में वृद्धि नहीं होती है और पूंजी निवेश के लिए कोई आग्रह नहीं रहता है और नतीजतन फैक्ट्रियों में शिफ्टों की संख्या कम कर दी जाती है, कल-कारखाने बंद हो जाते हैं और बेरोजगारों की तादाद और भी ज्यादा बढ़ जाती है।

यही वजह है कि अमेरिका तक में भी बेरोजगारी बढ़ती ही जा रही है। यदि इतने बड़े पैमाने पर बेरोजगारों की तादाद बढ़ती ही जाए, तो बढ़ती हुई इस बेरोजगारी के दबाव के कारण समूची उत्पादन प्रणाली ही एक रोज धराशायी हो सकती है और उत्पादन और उद्योगों की विकास-वृद्धि जारी रखना असंभव हो सकता है। इसलिए एक ऐसी विभीषिका को टालने की चेष्टा से संचालित होकर, कृत्रिम उपायों व साधनों द्वारा बाजार में एक तेजी व उछाल पैदा करना उनकी जरूरत है। ऐसी ही एक खास स्थिति में सैन्यीकरण की प्रवृत्ति पैदा होती है।

उद्योगों के सैन्यीकरण का अर्थ क्या है? इसका अर्थ है कि सरकार ही आर्डर देती है और खुद सरकार ही उत्पादों को खरीदती है। बाजार पर निर्भर करने की अर्थात् उत्पादों के बेचने हेतु आम लोगों की क्रय-शक्ति पर आश्रित रहने की जरूरत नहीं है। सिर्फ सरकार का मिलिट्री बजट बढ़ता जाता है। इसलिए चाहे अस्थायी तौर पर ही सही, जिसे हम मंदी कहते हैं—एक ऐसी स्थिति जब न कोई बाजार, न कोई काम और न कोई सप्लाई-आर्डर होते हैं—उद्योग उस मंदी से बच जाते हैं। ऐसी पोजीशन बन जाती है कि सरकार खुद ही तो बम वर्षक या लड़ाकू विमानों, ऐसे ही अन्य सामरिक उपकरणों एवं साजो-सामानों और धातु सामग्रियों (हार्डवेयरों) अथवा ऐसे ही अन्य फिजूल खर्च उत्पादों की सप्लाई के आर्डर देती है और

सरकार खुद ही उन्हें खरीद लेती है। इसके अलावा, क्योंकि अर्थव्यवस्था बाजार पर या लोगों की क्रय-शक्ति पर आश्रित नहीं होती है, इसलिए उसे एक सीमित अवधि तक फिलहाल मंदी के बढ़ते दबाव से बचाया जा सकता है। लेकिन इसके अंदर भी एक अंतर्निहित द्वन्द्व है। यह ऐसा द्वन्द्व है कि ज्यों-ज्यों अधिकाधिक सामरिक धातु-सामान व आयुध सामग्रियां तैयार की जाती हैं, यदि उनकी निकासी न हो, खपत न हो तो, इस तरह उत्पादित युद्ध सामग्रियों के लगातार अंबार लगते जाने की वजह से अर्थव्यवस्था में ठहराव की एक प्रवृत्ति का पैदा होना अवश्यंभावी है जिसके परिणामस्वरूप एक के बाद एक युद्ध उद्योगों को बंद करना जरूरी हो जायेगा। मगर सरकार भी तो इन सामग्रियों को अनंत रूप से हमेशा बिना किसी उद्देश्य के खरीद और उनका जखीरा जमा नहीं कर सकती है, इसलिए इन युद्ध सामग्रियों की निकासी के लिए, उन्हें स्थानीय और आंशिक युद्धों की जरूरत पड़ती है। यही बुनियादी विशिष्टता एवं कारक एक के बाद दूसरे संकट को पैदा कर रहा है जो वर्तमान युद्ध नीति की जड़ में मौजूद है।

साम्राज्यवाद को युद्ध की जरूरत है

पूरी दुनिया में चारों ओर एक देश को दूसरे के खिलाफ उकसाने-भड़काने, उन पर दारागीरी यानी बॉसिज्म करने और उनकी 'स्वाधीनता' की रक्षा करने के नाम पर, उनकी 'भलाई' करने के बहाने उनके अंदर जबरदस्ती घुसपैठ करने की अमेरिकी साम्राज्यवाद की नीति के पीछे यही रहस्य है, यही उसका मर्म है। आज, अमेरिकी साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था के लिए, शांति तो उसकी मौत के समान है। इसलिए चाहे वे एक विश्व युद्ध छेड़ने में सफल हों या न हों, मगर उन्हें पूरी दुनिया में यहां-वहां स्थानीय व आंशिक लड़ाइयों की सख्त जरूरत है। इसका कारण यह है कि उनके लिए अपनी सामरिक शक्ति को लगातार बढ़ाते रहना जरूरी है। लेकिन अगर वे अपनी सामरिक शक्ति को बढ़ाना जारी रखें और शस्त्र-होड़ को अविराम चलने दें, तो उनके लिए अपने जखीरे की निकासी करने हेतु समय-समय पर स्थानीय व आंशिक युद्धों, लड़ाइयों-टकरावों व अग्निकांडों को संचालित करने के सिवा कोई दूसरा चारा ही नहीं है। अब बात यह है कि क्या युद्ध का अर्थ सिर्फ विश्वयुद्ध ही है? जब कोई व्यक्ति युद्ध के खिलाफ होता है, तो क्या इसके मायने यह है कि वह सिर्फ विश्वयुद्ध के ही खिलाफ है? क्या साम्राज्यवादियों

द्वारा यहां-वहां संचालित ये स्थानीय व आंशिक युद्ध, युद्ध नहीं हैं, जिस तरीके से अमेरिका अतिक्रमण करके दूसरे राष्ट्रों में हस्तक्षेप कर रहा है और उन्हें एक-दूसरे के खिलाफ युद्ध में धकेल रहा है, या उन्हें लड़ाइयों-टकरावों एवं युद्धों में उलझाने हेतु, एक देश को दूसरे के बारे में सूचनाएं दे रहा है—ये युद्ध के लिए षड्यंत्र ही हैं। क्या ये युद्ध षड्यंत्र नहीं हैं? फर्ज करो कि राम और श्याम दो व्यक्ति हैं। अमेरिका राम के पास जा रहा है और बता रहा है कि श्याम ने उसके खिलाफ ऐसा-ऐसा किया है। मगर फिर, अमेरिका श्याम को राम के खिलाफ खुफिया सूचना प्रदान कर रहा है और उसे बता रहा है कि राम तुम्हारे विरुद्ध ऐसे-ऐसे षड्यंत्र एवं कुचक्र रच रहा है। इस प्रकार एक को दूसरे के खिलाफ उकसाने-भड़काने के एकमात्र उद्देश्य से अमेरिका दोनों पक्षों को एक-दूसरे के खिलाफ सूचनाएं पहुंचा रहा है। जासूसी एजेंसियों के अपने विश्वव्यापी नेटवर्क के जरिये वे षड्यंत्रों को अमली जामा पहना रहे हैं।

पिछले भारत-पाक युद्ध (1965 का युद्ध) के दौरान अमेरिका ने आयुधों एवं शस्त्र-अस्त्रों से पाकिस्तान की मदद की; उसके द्वारा चाहे जो भी सरकारी औचित्य क्यों न दिया गया हो, उसका उद्देश्य अत्यधिक स्पष्ट है। कश्मीर के लिए पाकिस्तान की मांग को उसने राजनीतिक समर्थन देकर, इस उपमहाद्वीप में तनाव पैदा करने से शुरू करके उसने वह हर चीज की, जो उसके बूते में थी। सच्चाई यह है कि अमेरिकी व ब्रिटिश समर्थक लॉबियों की सलाह और मदद से ही पाकिस्तान से घुसपैठिए भारत में दाखिल हुए थे, मगर फिर, सी.आई.ए. ने भारत को खुफिया सूचना दी कि पाकिस्तानी घुसपैठिए उसके इलाके में प्रवेश कर रहे हैं और उसने भारत को इस खतरे के खिलाफ सावधान किया। इस प्रकार, उन्होंने दोनों पक्षों को कमर कसने के लिए ताकीद की। उन्होंने भारत में घुसपैठिए भेजने के लिए पाकिस्तान को सलाह दी और आजाद कश्मीर मुद्दे को उन्होंने संयुक्त राष्ट्र संघ में उठवाया, वरना अमेरिका पाकिस्तान की कोई सहायता नहीं कर सकता था; लेकिन साथ ही साथ, वे भारत को सूचना दे रहे थे कि भारत में पाकिस्तानी घुसपैठ जारी है और भारत के लिए चौकस-चौकन्ना रहना जरूरी है। एक रिपोर्ट के अनुसार सी.आई.ए. ने ही सबसे पहले पाकिस्तानी घुसपैठ के बारे में भारत को सूचना दी थी। इस तरीके से, अमेरिका ने पर्दे के पीछे से सूत्रधार का कार्य किया ताकि दोनों देश युद्ध में उलझ जायें। यह मामला बिल्कुल अलग है कि भारतीय शासक वर्ग ने उस अवसर पर क्या

भूमिका निभाई। मैंने यह मिसाल सिर्फ अमेरिका द्वारा अपनाई जा रही राजनीति की प्रकृति को दर्शाने हेतु दी है।

अब्राहम लिंकन के जिस देश ने कभी स्वतंत्रता (liberty) व लोकतंत्र का परचम लहराया था, आज वह दूसरे देशों में एक के बाद दूसरी डाकाजनी कर रहा है। इस मामले पर इस तरह गौर करना गलती होगी मानो सिर्फ हम कम्युनिस्ट ही, उस देश की निंदा एवं बुराई करते हैं। इसलिए इस बात पर तनिक ज्यादा विस्तार से चर्चा करना जरूरी है। मैं यूरोप की ऐसी दो जानी-मानी महान हस्तियों—बर्ट्रेड रसल और ज्यां पॉल सार्त्रे—का नाम गिना सकता हूँ जो कम्युनिस्ट नहीं हैं, जिनके विचार कम्युनिस्ट विचारधारा से बुनियादी तौर पर जरा भी मेल नहीं खाते हैं और जो दार्शनिक दृष्टिकोण से, कम्युनिस्ट-विरोधी या कम्युनिज्म के खिलाफ तक भी कहे जा सकते हैं और आज जिनके विचारों को बुर्जुआ और प्रतिक्रियावादियों द्वारा मुख्य हथियार के रूप में इस्तेमाल किया जा रहा है। निश्चित रूप से यह बात सच है कि वे व्यक्तिगत रूप में ईमानदार हैं, उनकी अपनी-अपनी विचारधाराओं से प्रतिबद्धता और आस्था है, वे पुराने समय के मानवतावादी हैं लेकिन और जो भी हों पर वे कम्युनिस्ट नहीं हैं। फिर भी, 95 साल की उम्र में भी, बर्ट्रेड रसल जैसी महान हस्ती की ही यह घोषणा करने की चारित्रिक हिम्मत थी कि अमेरिका को और आगे लोकतांत्रिक राज्य कतई नहीं कहा जा सकता है। “यह तो एक धिनौना मिलिट्री शासन है, इसे एक लोकतांत्रिक सरकार कतई नहीं कहा जा सकता है”। स्टॉकहोम में उनके द्वारा स्थापित युद्ध अपराधियों के लिए जांच अदालत (Trial Court) में उन्होंने अमेरिका के बारे में यह टिप्पणी की थी।

95 साल की उम्र में बर्ट्रेड रसल से कम्युनिस्ट बनने की आशा नहीं की जा सकती है। इसके अतिरिक्त, उन्होंने कम्युनिस्टों के खिलाफ इस विश्वास के साथ आजीवन लड़ाई की है कि कम्युनिस्ट व्यक्ति-स्वतंत्रता के विरुद्ध हैं। यदि बर्ट्रेड रसल उम्र के लिहाज से जवान होते और अगर उन्हें एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ विश्लेषण करने के लिए अवसर एवं सुविधाएँ मिलतीं तो वे यह बात शायद समझ जाते कि तथाकथित व्यक्ति स्वतंत्रता के ये ‘अलंबरदार’ एव ध्वजधारी’ दुनिया को किधर ले जा रहे हैं। अब्राहम लिंकन का यह देश, नागरिक स्वतंत्रताओं का यह गढ़ आज डाकुओं-राहजनों के देश में परिणत कर दिया गया है। ऐसा कोई भी वहशियाना जुर्म नहीं है जो अमेरिका न करता हो। नाजियों को युद्ध

अपराधियों के रूप में दण्डनीय ठहराया गया था। आज अमेरिका, वियतनाम व विश्व के दूसरे बहुत-से देशों में जो कारगुजारियाँ कर रहा है, वे नाजियों को भी शर्मिंदा कर देती हैं। गेस्टापो के कुकृत्यों और देशद्रोहियों (Fifth Columnists) की कारस्तानियों को सभ्यता के खिलाफ संगीन दुरभिसंधियों व साजिशों के रूप में जाना-समझा जाता है। यहां मैं एक सवाल रखना चाहता हूँ: आज सी.आई.ए. और एफ.बी.आई. (क्रमशः अमेरिकी व ब्रिटिश खुफिया एजेंसियाँ) चारों तरफ क्या-क्या करतूतें कर रही हैं? क्या कोई ऐसा कुकृत्य है जिसे वे नहीं कर रही हैं? वे दुनिया भर में राजनीतिक हत्याएँ करने, शासनों का तख्तापलट आदि संचालित करने जैसी तमाम किस्म की निंदनीय व नापाक कारस्तानियों में लिप्त हैं। इन तमाम कुकृत्यों का एक ही लक्ष्य है, विश्व भर में यहां-वहां युद्ध का हौआ बनाए रखना, स्थानीय व आंशिक युद्धों को संचालित करना और एक देश को दूसरे के साथ टकराव व लड़ाई में प्रेरित करके उलझाए रखना ताकि जमा होते जा रहे और पुराने पड़ते जा रहे पारंपरिक अस्त्र-शस्त्रों की निकासी के लिए विभिन्न देशों को इन्हें खपाने के लिए प्रेरित किया जा सके। इसलिए जितने ज्यादा युद्ध होंगे, विश्व में जितना ज्यादा युद्ध का हौआ होगा, साम्राज्यवादियों-पूंजीपतियों के लिए और खासकर अमेरिकी साम्राज्यवादियों के लिए उतना ही ज्यादा फायदा होगा।

सोवियत नेतृत्व न्यूक्लियर ब्लैकमेलिंग का शिकार

सोवियत खेमे के नेता के नाते, अमेरिका के इस अतिदुष्ट चरित्र और घृणित राजनीति को सही रूप में समझना, और दुनिया के सामने उसके असली चेहरे को दिखलाना और बेनकाब करना तथा अमेरिकी साम्राज्यवाद की अन्तर्राष्ट्रीय लूट और डाकाजनी के खिलाफ सोवियत खेमे की राजनीति को विश्व के क्रांतिकारी जन आन्दोलनों के साथ संयोजित व समन्वित करना सोवियत संघ का अनिवार्य कर्तव्य था। लेकिन सोवियत संघ अमेरिकी साम्राज्यवाद की इस धिनौनी राजनीति को तनिक भी नहीं समझ सका। शुरू से ही अमेरिका द्वारा अनुसरण की जा रही न्यूक्लियर ब्लैकमेलिंग की, न्यूक्लियर युद्धाभय पैदा करने की राजनीति का एक निहित उद्देश्य था। उसे बखूबी मालूम है कि जब तक समाजवादी खेमे की न्यूक्लियर शक्ति में विशिष्ट श्रेष्ठता कायम है, तब तक अमेरिका कतई कोई युद्ध नहीं छेड़ सकता है। इसका कारण यह है कि अगर ऐसी स्थिति में युद्ध छिड़ जाता

है, तो अमेरिका को ही सबसे ज्यादा मुसीबत झेलनी पड़ेगी और वही फौरन तबाह कर दिया जायेगा। यही कारण है कि जिस तरह एच. जी. वैल्स जैसे कुछ लोगों ने सिनेमा के लिए कहानी के रूप में विज्ञान की काल्पनिक कथाएं लिखी थीं, ठीक वैसे ही यह (अमेरिका) रोमांचकारी किस्से-कहानियां प्रसारित करके इस मुद्दे पर तहलका पैदा करने की कोशिश करके दुनिया के सामने एक धमकी एवं खतरा पेश कर रहा है कि अगर एक आणविक युद्ध छिड़ जाये, तो किस तरह एक क्षण में विश्व जलकर राख का ढेर बन जायेगा। संक्षेप में, अमेरिकी साम्राज्यवाद विभिन्न देशों में लोगों के अंदर आतंक पैदा करने और एक भावना विश्व के विभिन्न देशों के लोगों में पैदा करने की कोशिश कर रहा है कि एक न्यूक्लियर युद्ध छिड़ने की स्थिति में तो खुद मनुष्य जाति का ही नामो-निशान मिट जायेगा, क्योंकि आखिर हरेक चीज लोगों के लिए ही तो अहमियत रखती है, और ऐसी कोई भी चीज कभी नहीं की जानी चाहिए जो मनुष्य जाति और सभ्यता की तबाही का कारण बन सकती है। दहशत पैदा करने वाले ऐसे किस्से फैलाने-प्रचारित करने का अमेरिकी उद्देश्य समाजवादी खेमे को धौंस एवं धमकी देना है कि किसी भी तरीके से उसके स्वार्थ को खतरे में डालने की स्थिति में, युद्ध छिड़ जायेगा, इसलिए सावधान! वाह! बहुत खूब! मानो एक विश्व युद्ध न भड़क जाए—यह ध्यान रखने की जिम्मेदारी दूसरों की है और खुद उन पर तो यह दायित्व आयद ही नहीं होता है। मानो यह सुनिश्चित करने की जिम्मेदारी अकेले सोवियत संघ पर ही आती है कि एक विश्वयुद्ध न भड़के और मनुष्य-जाति नेस्तनाबूद न हो जाये। जबकि उनका धंधा युद्धों को शुरू करने हेतु दूसरे देशों में युद्ध पोतों व विमानों के साथ जा धमकना है और यदि अमेरिका का प्रतिरोध किया जाता है तो एक विश्वयुद्ध वह भी एक न्यूक्लियर युद्ध छिड़ जाने की पूरी संभावना है जो दुनिया में तबाही मचा देगा। इसलिए उसकी तमाम शैतानी एवं जालिमाना कारस्तानियों को चुप-चाप सहते जाना और उसे संतुष्ट व शांत रखना दूसरों का ही काम है। लेकिन फिर भी यह एक तथ्य है कि अमेरिकी साम्राज्यवाद सोवियत संघ को न्यूक्लियर ब्लैकमेलिंग की अपनी राजनीति का शिकार बनाने में कामयाब हो गया है।

अमेरिकी न्यूक्लियर ब्लैकमेलिंग के इस उद्देश्य को समझने में सोवियत नेतृत्व पूरी तरह असफल हुआ है; वे जरा भी नहीं समझ सके कि जितने समय तक सोवियत संघ और समाजवादी खेमे की न्यूक्लियर श्रेष्ठता

है, अमेरिका एक न्यूक्लियर युद्ध छोड़ने की जुर्रत नहीं कर सकेगा। इससे बढ़कर महत्वपूर्ण बिन्दु यह है कि साम्राज्यवाद के इस कुचक्र एवं झांसे को नाकाम करना ही न्यूक्लियर युद्धों को रोकने का कारगर जरिया या गारंटी है। वरना इन साम्राज्यवादी साजिशों से अगर किसी रोज युद्ध छिड़ जाये, तो उसकी परिणति अपरिहार्य रूप से एक न्यूक्लियर युद्ध में ही होगी। इसलिए महज खुशामद करने से न्यूक्लियर युद्ध हरगिज नहीं टाला जा सकता है। न्यूक्लियर युद्ध को रोकने हेतु उसकी जड़ों पर आघात करना जरूरी है ताकि साम्राज्यवादी उसके लिए तैयारियां करने में सफल न हो सकें। इसे अमली तौर पर लागू करने हेतु सब से पहले साम्राज्यवादी खेमे के अंदर विद्यमान द्वन्द्वों का लाभ उठाना जरूरी है ताकि साम्राज्यवादी युद्धों को शुरू करने और उन्हें जिस चीज की जरूरत है उसे हासिल करने के लिए वे एकताबद्ध न हो सकें और गुट या ब्लाक न बना सकें; दूसरे, नव-स्वाधीन उभारशील राष्ट्रवादी देशों को साम्राज्यवाद के खिलाफ उनके द्वन्द्वों को इस तरीके से मदद देना जरूरी है कि साम्राज्यवाद-विरोधी संग्राम सुदृढ़ हो जाये और साम्राज्यवाद को और भी ज्यादा कोने में धकेला जा सके; तीसरे, पूंजीवादी-साम्राज्यवादी देशों में क्रांति के लिए संग्रामरत मजदूर वर्ग तथा औपनिवेशिक देशों में स्वतंत्रता के लिए संग्रामरत लोगों को सक्रिय सहायता प्रदान करना ताकि बाहर से प्रतिक्रियावादी हमलों और दखलअंदाजी से मुक्त होने के कारण इन देशों में क्रांति सफल हो जाये, एक ऐसी अनुकूल स्थिति पैदा की जानी चाहिए ताकि इन देशों में क्रांतिकारी संग्राम अंतिम विजय अर्जित कर सकें; चौथे, विदेशी मामलों में एक ऐसी राजनयिक नीति का अनुसरण करना जिसके द्वारा अमेरिका को राजनीतिक व आर्थिक रूप से अलग-थलग किया जा सके, क्योंकि आज अमेरिका ही अन्तर्राष्ट्रीय लूट व डाकेजनी को संगठित करने में, प्रतिक्रांतियों को निर्यात करने में नेतृत्व प्रदान कर रहा है और वही दुनिया में अक्वल दर्जे का जंग भड़काऊ, युद्ध को उकसावा व शह देने वालों का सरगना है।

ऊपर चर्चित प्रोग्रामों को समन्वित करना ही सोवियत राजनीति, उसकी विदेश नीति के लिए तथा सामान्य रूप से अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन से संबंधित हर चीज के लिए एक बहुत महत्वपूर्ण फर्ज था। मगर कॉमरेड स्तालिन के देहांत के बाद, सोवियत नेतृत्व न सिर्फ इस फर्ज को ही नहीं निभा सका, बल्कि उन्होंने इन दायित्वों को पूरा करने से दूर का भी नाता न रखने वाली बहुत-सी धारणाओं को भी प्रस्तुत कर दिया। संशोधनवादी

सोवियत नेतृत्व की इन त्रुटिपूर्ण अवधारणाओं के कारण विश्वयुद्ध के बाद की अवधि में एक सतही धारणा पर आधारित ही सही इन दायित्वों को पूरा करने के पक्ष में लोगों के अंदर जो थोड़ा-बहुत समर्थन विकसित हुआ था वह भी खत्म हो गया। कम्युनिस्टों की सैद्धांतिक चेतना के निम्न स्तर का लाभ उठाकर आम लोगों के अंदर भ्रांति पैदा करने हेतु जिन कुछ अप्रासंगिक सवालों को साम्यवादी खेमे के अंदर पूंजीपति उठाने की लगातार कोशिश कर रहे थे, उससे एक ऐसी स्थिति पैदा हो गयी कि वर्तमान सोवियत नेतृत्व इन सब बातों का अर्थात् न्यूक्लियर युद्ध के निराधार व अनावश्यक भय तथा किसी भी कीमत पर शांति कायम रखने के अति-उत्साह का शिकार बन गया। अतः उन्होंने तर्क देना शुरू कर दिया कि विश्वयुद्ध छिड़ जायेगा और यदि वह छिड़ जाये तो समूची सभ्यता ही तबाह हो जायेगी।

यह बात सही है कि शांति कायम रखनी है। लेकिन क्या शांति कायम रखने का अर्थ यह है कि अमेरिका तो दूसरे देशों में जा धमके, युद्ध छेड़ता रहे, प्रतिक्रांतियां संगठित करता रहे और वहां अन्तर्राष्ट्रीय डाकाजनी करना जारी रखे—मगर अमेरिका का इसीलिए कारगर ढंग से प्रतिरोध न किया जाये, क्योंकि उससे शांति भंग हो जायेगी? तो फिर क्या होगा? इसका नतीजा यह होगा कि अमेरिका जो चाहे वे हरकतें करता रहेगा, लेकिन कोई भी कारगर प्रतिरोध नहीं किया जा सकेगा, चूंकि ऐसा प्रतिरोध विश्वयुद्ध छिड़ने का कारण बन सकता है। कैसा विचित्र तर्क है! लेकिन ख्रुश्चेव की दलील ठीक इसी तरह की है। उनकी दलील है: क्या स्थिति होगी यदि विश्वयुद्ध इस वजह से शुरू हो जाये कि अमेरिका का प्रतिरोध किया जाता है? और, विश्वयुद्ध की स्थिति में, यह सिर्फ न्यूक्लियर युद्ध ही हो सकता है तथा न्यूक्लियर युद्ध के चलते, सभ्यता ही तबाह हो जायेगी एवं यदि इस तरह सभ्यता ही तबाह हो गयी, तो क्या हम समाजवाद का निर्माण राख के ढेर पर करेंगे? लेकिन परिस्थिति तो इससे सर्वथा विपरीत है। यह कल्पना ही मनोगत चिंतन, एक भाववादी सोच (Utopia) है कि जिस क्षण अमेरिका का प्रतिरोध किया जायेगा तो उसी क्षण एक न्यूक्लियर युद्ध छिड़ जायेगा।

शुरू में अमेरिका को पक्का यकीन नहीं था कि न्यूक्लियर ब्लैकमेलिंग की उसकी राजनीति इतने अच्छे तरीके से कारगर हो जायेगी, क्योंकि उस समय सोवियत संघ साम्राज्यवाद-विरोधी नारों से आकाश को गुंजित कर रहा था जैसा कि वह अब भी कर रहा है। मगर तब तक सोवियत संघ के

अमेरिका-विरोधी स्टैंड यानी नीति का वास्तविक चेहरा अमेरिका के सामने स्पष्ट नहीं हुआ था। इसी वजह से, अमेरिका तदनुसार ही कार्रवाई कर रहा था। कोरिया युद्ध में पराजय के फलस्वरूप, अमेरिकी साम्राज्य की साख एवं प्रतिष्ठा कम होती जा रही थी। कोरिया युद्ध में हुआ यह कि मामूली व पुराने ढर्रे के पारंपरिक हथियारों से चीनी वालंटियरों ने परमाणु बमों से लैस अमेरिकी सेनाओं को, जो दूसरे विश्वयुद्ध के बाद की अवधि में साम्राज्यवादी-पूंजीवादी देशों में सबसे ताकतवर थीं, सिओल से परे खदेड़ कर उसकी अच्छी खबर ली थी। इसके अतिरिक्त अमेरिकी सैनिक टुकड़ियों के हजारों सैनिक वियतनाम में मर रहे हैं, लेकिन आक्रमणकारी अपनी सुरक्षा को तनिक भी नहीं बढ़ा सके हैं। यदि सच कहें तो अमेरिका वहां एक विचित्र परिस्थिति में फंस गया है, उसका संकट हर पल बढ़ता जा रहा है, सामरिक खर्चे निरंतर बढ़ते जा रहे हैं। अभी तक उत्पादित आयुधों में सबसे ज्यादा आधुनिक व श्रेष्ठ अस्त्र-शस्त्रों को इस्तेमाल करने और अपनी सर्वाधिक कोशिश करने के बावजूद भी वह वहां अपनी पोजीशन सुधारने में सक्षम नहीं हुआ है।

यहां भी, अमेरिका के लिए यह एक नाक का सवाल बन गया है; अब तो यह उस साख को बचाने के लिए एक कठिन संग्राम है। अपनी साख को बहाल करने के प्रयास में तो वह एक किस्म के दुस्साहस पर भी उतर आया है। अमेरिकी सामरिक शक्ति के बारे में जो मिथक या कपोल-कल्पना थी, वह कोरिया युद्ध में ध्वस्त हो गयी थी। इस दुस्साहसिकता का मुख्य उद्देश्य अपनी छवि को पुनः चमकाना था।

क्यूबाई संकट की गलत हैंडलिंग

अमेरिका ने कैरीबियन सागर में अपनी न्यूक्लियर ब्लैकमेलिंग पर सबसे पहला प्रयोग किया। इस प्रयोग से उसने सोवियत संघ की साम्राज्यवाद-विरोधी लाइन के स्वरूप को जांचने का प्रयास किया। स्वेज नहर मुद्दे पर ब्रिटेन के खिलाफ जो जवाबी कार्रवाई सफल हो चुकी थी उसकी असलियत में गहराई क्या थी? और विभिन्न मद्दों पर ख्रुश्चेव द्वारा व्यवहृत राजनीति और विभिन्न मुद्दों पर सोवियत संशोधनवादी नेतृत्व के आचरण की सूक्ष्म रूप से जांच-परख करके अमेरिकी कूटनीतियों ने महसूस किया कि वे इस नुकते को सही तरीके से समझने में सफल हो गये हैं। दरअसल एक किस्म के युद्ध आतंक ने सोवियत नेतृत्व को अपनी

गिरफ्त में ले लिया था और वे एक न्यूक्लियर युद्ध-हौए के पहले ही शिकार हो चुके थे। इसके बाद जब एक दफा साम्राज्यवादी यह भांपने में सक्षम हो गये कि समाजवादी खेमा युद्ध से भयभीत है, जिस चीज की उम्मीद थी अब वही हो रहा है। मगर यह तो सोवियत नेतृत्व की कमजोरी की वजह से ही हुआ है। विडम्बना यह है कि सोवियत नेतृत्व यह तक भी पक्के तौर पर नहीं पकड़ सका कि अमेरिका तो दरअसल कैरीबियन में सोवियत राजनीति को परखना चाहता था। सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी के नेता यह बात भली-भांति समझ ही नहीं सके कि इस कार्रवाई से अमेरिका सोवियत संघ को ऐसी पोजीशन में धकेल देना चाहता था कि वह यह जांच-परख कर सके कि किसी शक्ति-परीक्षण में सोवियत संघ साम्राज्यवाद के खिलाफ कितनी दूर तक जा सकता था। अर्थात् अमेरिका खास तौर पर यह जायजा लेना चाहता था आयाकि उसके साथ शक्ति-परीक्षण में सोवियत संघ आंशिक व स्थानीय युद्ध में प्रवेश करेगा या नहीं और अगर जरूरी हो तो वह विश्वयुद्ध का जोखिम उठाकर भी अमेरिकी डाकेजनी को रोकने हेतु एक समग्र एवं चौरतफा जवाबी हमला भी करेगा या नहीं। खास तौर पर यह बात जांचने के लिए ही अमेरिका ने कैरीबियन नाकेबंदी का सहारा लिया।

उन्होंने नाकेबंदी ऐसे तरीके से की कि यदि सोवियत संघ को धमकियों और उकसावों द्वारा एक स्थानीय युद्ध में घसीटा जा सका, तो क्योंकि यह क्षेत्र अमेरिका के साथ निकटता के कारण अमेरिका को सामरिक लाभ एवं सुविधा प्रदान करता था, इसलिए अमेरिका के लिए सोवियत संघ को पराजित करना संभव होगा। दूसरी ओर अगर सोवियत संघ ने यह नीति अपनायी कि वह इस मुद्दे पर अमेरिका के साथ न सिर्फ एक स्थानीय युद्ध में उलझ जायेगा, बल्कि ऐसी अमेरिकी डाकेजनी को हरगिज बर्दाश्त नहीं करेगा, चाहे जो कुछ भी क्यों न हो जाये, चाहे विश्वयुद्ध का खतरा ही क्यों न हो, अर्थात् सोवियत नेता इस अमेरिकी कार्रवाई को अमेरिका व सोवियत संघ के बीच एक समग्र युद्ध मानेंगे—तो अमेरिका अपने कदम पीछे हटा लेगा। तब शांति की बातें बनाते हुए, शांति के मसीहा के रूप में हाव-भाव प्रदर्शित करते हुए, वह विश्व शांति कायम रखने के बहाने पीछे हट जायेगा। कैरीबियन नाकेबंदी सोवियत रवैये को जांचने के प्रयोग के रूप में रची गयी थी, यह देखने हेतु कि सोवियत किस तरह प्रतिक्रिया करता है। इसके बाद ख्रुश्चेव ने एक स्कूली बच्चे जैसे राजनीतिज्ञ की तरह वही आचरण किया, जिसकी उससे अमेरिका को उम्मीद थी।

इस घटना के सही निहितार्थ को समझे बगैर ही ख्रुश्चेव ने शुरू में ही धमकी दे डाली। वह यह समझ ही नहीं सका कि अमेरिका ने आतंकित हो कर झुक जाने के लिए तो यह कार्रवाई की ही नहीं थी। वस्तुतः अमेरिका इस सोवियत धमकी की वास्तविक सीमा का पता करना चाहता था। अमेरिका खासतौर पर यह जानना चाहता था कि इस धमकी का सिर्फ यही अर्थ था कि सोवियत संघ अपने आपको वहां अमेरिकी युद्धपोतों के साथ स्थानीय युद्ध तक ही सीमित रखेगा या इसका अर्थ इससे कुछ ज्यादा कार्रवाई करना था। अगर वह स्थानीय युद्ध तक ही सीमित रहता तब तो अमेरिका की सोवियत धमकी से डरने की कोई बात ही नहीं थी, क्योंकि उसे वहां सामरिक लाभ हासिल था। वहां स्थानीय युद्ध में सोवियत संघ को निश्चय ही पराजय का मुंह देखना पड़ता। इसके उलट, यदि सोवियत धमकी अमेरिका व सोवियत संघ के बीच एक समग्र युद्ध के बराबर होता, तो इस धमकी में अमेरिका के लिए कुछ वास्तविक खतरा मौजूदा था और भयभीत होने के कारण भी विद्यमान थे। इसका कारण यह था कि उस हालत में तो इसका अर्थ एक विश्वयुद्ध ही होता। इसके अलावा, उस समय तक भी सोवियत संघ को अंतर-महाद्वीपीय प्राक्षेपिक मिसाइलों (ICBM) के क्षेत्र में अमेरिका पर श्रेष्ठता हासिल थी और वह अमेरिका से कहीं आगे था। इसके मायने हैं कि सोवियत संघ के पास इतनी क्षमता थी कि वह अपने खुद के देश से अमेरिकी अड्डों को 15 मिनट के अन्दर ही उड़ा कर ध्वस्त कर सकता था; इन मिसाइलों (ICBM) को यह दूरी तय करने में सिर्फ 15 मिनट ही लगते। स्थिति यह थी। सोवियत संघ के हाथों में ऐसा मारक हथियार था।

मगर हमने देखा कि पहले सोवियत संघ ने धमकी दी और जवाब में अमेरिका ने जवाबी धमकी दे डाली। शुरू में सोवियत वालों ने कहा: 'तो हम युद्ध-पोत भेज रहे हैं'। अमेरिका ने यह चुनौती स्वीकार कर ली, क्योंकि सभी युद्ध-नीतिज्ञ जानते थे कि इसका अंजाम क्या होना है। सभी सेनापतियों ने तुरंत ख्रुश्चेव को सलाह दी कि वहां सोवियत संघ को स्थानीय युद्ध में पराजित कर दिया जायेगा। सोवियत संघ को स्थानीय युद्ध सामग्रियों हजारों मील दूर युद्धपोतों व लड़ाकू विमानों से ढोकर ले जानी पड़तीं, क्योंकि उसे सैन्य परिवहन व सप्लाय के लिए स्थान का लाभ भी हासिल नहीं था। इसलिए उसके लिए इस तरह युद्ध का संचालन करना और इसे जारी रखना मुमकिन नहीं था। सोवियत संघ के पास स्थानीय युद्ध की बजाय, सिर्फ

न्यूक्लियर युद्ध का ही विकल्प बचता था। क्योंकि अमेरिका तो वहां अपने अड्डों से लड़ेगा और उसे अपने पृष्ठ-भाग के अड्डों के साथ अत्यधिक निकटता और संपर्कसूत्र हासिल थे जबकि सोवियत संघ हजारों मील दूर स्थित था।

सोवियत संघ के लिए साजो-सामान को पनडुब्बियों में ढोकर या बहुत-से देशों को पार करके वहां पहुंचाना और लड़ाई करना संभव ही नहीं था। इसलिए यदि लड़ाई लड़ना आखिर जरूरी ही था, तो यह स्थानीय युद्ध नहीं, बल्कि सिर्फ विश्वयुद्ध ही हो सकता था। खुश्चेव ने कहा: 'हे भगवान! यदि विश्वयुद्ध होता है तो दुनिया ही तबाह हो जायेगी! इस की इजाजत नहीं दी जा सकती! इसलिए, हमारे लिए हार मानना एवं समर्पण करना ही बेहतर है।' इसके बाद, शांति के नाम पर खुश्चेव ने अमेरिकी डाकेजनी के सामने घुटने टेक कर आत्म-समर्पण कर दिया। इस पर 'बगुला भगतों' के एक गिरोह ने इसकी सराहना में तालियां बजायीं। उन्होंने कहा कि इस आत्मसमर्पण द्वारा खुश्चेव ने विश्व में शांति के परचम को बुलंद किया है। लेकिन वे समझ ही नहीं सके कि कितना जबरदस्त नुकसान पहुंचा दिया गया था। इसके द्वारा विश्व भर के प्रतिक्रियावादियों ने पेंटागन व उसकी सामरिक शक्ति के श्रेष्ठ होने के बारे में की राय बना ली। अमेरिकी सामरिक शक्ति की खोई हुई प्रतिष्ठा व साख बहाल हो गयी। कोरिया में खोया गौरव इस प्रकार अमेरिका ने फिर हासिल कर लिया। बहुतों के अंदर एक भावना बलवती हो गयी कि लो, देख लो अमेरिका की असली ताकत और सोवियत संघ इतना शक्तिशाली नहीं है जितना बताया जाता है या बाहर से नजर आता है, और यदि अमेरिका प्रतिरोध पर उतर आये, तो उससे टकराने में सोवियत संघ की डर से घिग्घी बंध जाती है। विश्व भर में प्रतिक्रियावादी षड्यंत्रकारी गिरोहों को यकीन आ गया कि अमेरिका वस्तुतः एक भरोसेमंद मित्र-शक्ति है। वे इस विचार से उत्साहित व आश्वस्त हो गये कि अमेरिका जैसी एक मजबूत शक्ति उनकी तरफ है। क्रांति या लोगों के मुक्ति संग्रामों या अन्य किसी भी चीज के बारे में उन्हें डरने का कोई कारण नहीं है। इस प्रकार प्रतिक्रियावादी षड्यंत्रकारी गिरोहों के समक्ष अमेरिका की और उसके पेंटागन की सामरिक शक्ति की छवि पुनः संवर गयी तथा अमेरिकी प्रशासन को उसकी खोई हुई प्रतिष्ठा समूचे तौर पर पुनः प्राप्त हो गयी।

टोंकिन संकट के दौरान विश्वासघात

लेकिन यह तो सोवियत संघ पर अमेरिका द्वारा किया गया केवल पहला प्रयोग था। इसलिए अमेरिका ने सोचा कि शायद सोवियत संघ ने अपनी पहले वाली गलती समझ ली हो और उसे सुधार भी लिया हो और संभवतः यह उसकी स्थायी नीति न हो। इसलिए इसकी जांच करने हेतु अमेरिका ने इस बार टोंकिन की खाड़ी में एक दूसरा प्रयोग किया। दक्षिण वियतनाम में जंग जारी थी, लेकिन अमेरिका ने एकाएक अपने सातवें बेड़े के साथ उत्तर वियतनाम पर हमला कर दिया। उसने टॉरपीडों से उत्तर वियतनामी बहुत-सी गनबोटों को ध्वस्त कर डाला। हमेशा की तरह, एक बहाने के रूप में झूठी कहानी गढ़कर उन्होंने उत्तर वियतनाम पर हमला कर दिया। इस हमले द्वारा यह पता लगाने हेतु उन्होंने सोवियत संघ को टेस्ट किया यानी जायजा लिया और उसे आजमा कर देखा कि स्थिति क्या मोड़ लेती है। यह तो उनका सिर्फ पहला कदम था। इसका कारण यह था कि यहां स्थिति बिल्कुल वैसी नहीं थी जैसी कैरीबियन में थी। इस मामले में, सोवियत संघ एक घोषित नीति का सम्मान करने के लिए प्रतिबद्ध था कि किसी भी समाजवादी देश पर हमले को खुद सोवियत संघ पर ही हमला माना जायेगा और किसी भी समाजवादी देश की प्रतिरक्षा व सुरक्षा आखिर सोवियत संघ पर ही तो निर्भर है। मगर उत्तर वियतनाम पर अमेरिकी हमले की समूची घटना और बाद की घटनाओं ने साबित कर दिया कि सोवियत नेताओं पर न्यूक्लियर युद्ध-आतंक इतना ज्यादा हावी था कि वे इस मुद्दे पर एक समाजवादी देश की ऐसी महत्वपूर्ण घोषित नीति को इतनी आसानी से पैरों तले रौंद बैठे।

बात यहीं पर खत्म नहीं हो जाती है। एक समय सोवियत संघ व चीन के बीच एक समझौता या गुप्त संधि हुई थी, जिसके द्वारा सोवियत संघ न्यूक्लियर अस्त्र-शस्त्रों को विकसित करने में चीन की सहायता करने के लिए प्रतिबद्ध था। लेकिन अमेरिका के साथ चर्चा के बाद—मुझे यह याद नहीं कि उस समय आइजनहॉवर या कैंनेडी में से कौन अमेरिकी राष्ट्रपति था, चाहे जो भी हो, इससे फर्क नहीं पड़ता—सोवियत संघ ने अमेरिका को आश्वासन दिया था कि यदि अमेरिका पर्यावरण में न्यूक्लियर परीक्षणों को बंद करने तथा न्यूक्लियर अस्त्र-शस्त्रों को सीमित करने का प्रयास करने पर सहमत हो जाये, तो सोवियत संघ इसके एवज में न्यूक्लियर अस्त्र-शस्त्र तैयार करने के लिए चीन को मदद प्रदान नहीं करेगा। इस कृत्य द्वारा

सोवियत संघ ने चीन के साथ हुए अपने गुप्त समझौते को अमेरिका के सामने प्रकट कर दिया। इस सबका तात्पर्य क्या है? यहां सोवियत संघ का आचरण एक मानवतावादी या एक ईमानदार साधु-संत-पादरी जैसा ही था, जिसका राजनीति से कुछ लेना-देना या कोई संबद्धता ही नहीं है। इसे खालिस अज्ञानता का उदाहरण या अमेरिका के प्रति सोवियत संघ की घोर दासता का कृत्य ही कहा जा सकता है। मामला चाहे जो भी हो, व्यावहारिक राजनीति पर इसका प्रभाव तो एक समान ही था। बहरहाल अमेरिका ने इसका भरपूर लाभ उठाया। जब चीन ने सोवियत संघ के समाजवादी देश होने के बावजूद अमेरिका के समक्ष इस तरह की गुप्त संधि प्रकट कर देने, न्यूक्लियर अस्त्र-शस्त्र उसे प्रदान न करने और अमेरिका के साथ एक ऐसा समझौता करने के लिए सोवियत संघ की आलोचना की, जो समझौता समाजवादी खेमे का ही सबसे ज्यादा नुकसान एवं अनिष्ट करेगा, और सोवियत संघ को इसका जवाब देने के लिए उसने मजबूर किया तो सोवियत संघ ने कहा: “चीन को न्यूक्लियर अस्त्र-शस्त्र तैयार करने की आखिर जरूरत ही क्या है? इसके अलावा, क्या उसे यह पता नहीं है कि सोवियत संघ के पास समूचे समाजवादी खेमे की सुरक्षा के लिए काफी न्यूक्लियर क्षमता है? इसलिए चीन को इस दिशा में एवं इस मद पर अपने संसाधन अनावश्यक रूप से केन्द्रित कर देने और फिजूल खर्च करने का लाभ ही क्या है?” सोवियत संघ ने चीन को यकीन दिलाने की कोशिश की कि इसकी बजाय चीन को अपने तमाम प्रयास व शक्तियां आर्थिक विकास पर ही संकेन्द्रित करनी चाहिए ताकि वह एक योजनाबद्ध तरीके से आर्थिक रूप से खुशहाल हो सके और अपना विकास तेजी के साथ कर सके।

उस समय, खुश्चेव के मन में एक ऐसी विचित्र आर्थिक योजना भी उमड़-घुमड़ रही थी कि समाजवादी देशों को कई-एक ‘सेक्टरों’ में बांट दिया जाये-उद्योग कुछ खास समाजवादी देशों के मामले या क्षेत्र होंगे, जबकि कुछ अन्य समाजवादी देशों को कृषि आधारित देश रखा जाये। मगर कोई भी समाजवादी देश इसे मानने की पोजीशन में नहीं था, बल्कि उनके द्वारा एक ऐसी स्कीम को टुकराना निश्चित था। इसका कारण यह है कि हरेक समाजवादी देश में एक राष्ट्रीय मानसिकता रहती है, हरेक देश के राज्य का स्वरूप राष्ट्रीय है, जो फिलहाल अपना अस्तित्व निःशेष नहीं कर चुका है। मामला ऐसा कतई नहीं है कि समाजवादी राज्यों का राष्ट्रीय चरित्र इसीलिए निःशेषित हो गया है कि एक विश्व समाजवादी

व्यवस्था वजूद में आ गयी है। बल्कि उल्टे, आज हरेक समाजवादी देश अपनी राष्ट्रीय सीमा के अंदर ही, अपने निजी राष्ट्रीय मानसिक गठन के साथ पृथक रूप से मौजूद है। कोई भी इस तथ्य को नकार नहीं सकता है। ऐसी स्थिति में, कोई भी समाजवादी देश दूसरों के लिए अपनी आर्थिक क्षमता की बलि नहीं दे सकता है। सोवियत संघ के पास तो इस्पात व अन्य उन्नत प्रौद्योगिकी (टेक्नोलॉजी) और उद्योग होंगे, जबकि दूसरे समाजवादी देश सोवियत उद्योगों को कच्चे माल सप्लाई करने हेतु सिर्फ कृषि की ओर उन्मुख हो जायेंगे-क्या कोई भी समाजवादी देश ऐसी हास्यास्पद प्रस्थापना पर सहमत हो जायेगा? कोई भी सहमत नहीं हो सकता है और व्यवहार में बिल्कुल यही हुआ-वस्तुतः कोई भी सहमत नहीं हुआ, क्योंकि एक ऐसी प्रणाली विकसित होने और कारगर होने के लिए लम्बा समय लगेगा। जब विश्व समाजवादी व्यवस्था स्थापित हो जायेगी, राष्ट्रों के बीच तनाव व झगड़े लुप्त हो जायेंगे, जब समाजवादी राज्य अस्तित्व का अपना राष्ट्रीय स्वरूप निःशेषित कर देंगे और वे एकीकृत, एक ही एकीकृत अन्तर्राष्ट्रीय मानव समाज में विलीन व एकाकार हो जायेंगे, एकमात्र तभी ऐसी स्थिति पैदा हो सकेगी, उससे पहले ऐसा कतई संभव नहीं है। उससे पहले, ऐसे जबरदस्ती थोपने को दूसरे समाजवादी देश एक दाम्भिक रवैये के रूप में ही मानेंगे और उसकी प्रधानता को संदेह की नजर से देखा जायेगा। दरअसल, सोवियत संघ के बारे में एक ऐसे संदेह ने अपना मनहूस सिर बाल्कन राज्यों में पहले ही उठा लिया है। चीन में भी यही हो रहा है और यह होना अनिवार्य भी था। यह संदेह पैदा होने के वस्तुगत कारण भी मौजूद हैं, क्योंकि खुश्चेव की यह योजना वास्तविकताओं के साथ कोई मेल ही नहीं खाती है; इस योजना में वर्तमान दौर की मौजूदा वास्तविकता की कोई अभिव्यक्ति या प्रतिफलन ही नहीं है, जिस दौर से समाजवादी क्रांति गुजर रही है। इसलिए किसी के लिए भी इस अवास्तविक व अजीबोगरीब योजना को स्वीकार करना संभव नहीं हुआ।

न्यूक्लियर युद्ध के खिलाफ गारंटी

चीन द्वारा न्यूक्लियर बम बनाने के मुद्दे पर ऐसी ही लाइन थी, जिस लाइन पर सोवियत संघ तर्क कर रहा था। चीन का जवाब यह था कि सोवियत संघ ने शुरू में ही एक शरारत कर दी और उसके बाद वह एक

अन्य शरारत भी कर बैठा है। पहली शरारत तो यह थी कि दुस्साहसिक वीरता के एक अचानक प्रदर्शन में, सोवियत संघ ने अमेरिका को वचन दिया कि वह पर्यावरण में न्यूक्लियर अस्त्रों का परीक्षण जारी नहीं रखेगा। राजगोपालाचारी जैसे कुछ प्रगतिशील (!) लोगों ने तालियां बजाकर वाहवाही की और कहा कि आखिर सोवियत संघ ने मानवतावादी रुख एवं दृष्टिकोण अपना ही लिया। और न्यूक्लियर सामरिक शक्ति में सोवियत संघ से पिछड़े हुए अमेरिका ने, विशेष रूप से भूमिगत न्यूक्लियर परीक्षणों को चोरी-छिपे जारी रखकर उस अन्तर को पाटने हेतु इस स्थगनकाल का भरपूर उपयोग किया है। थोड़े ही समय में, सोवियत संघ की इस भारी गलती का पता चल गया। सोवियत संघ किस आत्मघाती नीति का अनुसरण कर रहा था चीन ने इसे साफ दिखला दिया।* जिस घोषित एवं स्वीकृत उद्देश्य के लिए सोवियत संघ ने न्यूक्लियर अस्त्र-परीक्षण बंद कर दिये थे—साम्राज्यवादी तो उस दिशा में एक कदम भी आगे नहीं बढ़ायेंगे। वे तो एक महान 'मानवतावादी' के रूप में सोवियत संघ की पीठ थपथपायेंगे और वाहवाही करेंगे, जबकि साथ-साथ इस बात पर ध्यान देने की पूरी कोशिश करेंगे कि कितनी जल्दी न्यूक्लियर शक्ति में अपने और सोवियत संघ के बीच की खाई को वे पाट सकते हैं। ज्यों ही यह खाई एवं अंतर खत्म हो जायेगा और न्यूक्लियर शक्ति में सोवियत संघ से अमेरिका बाजी मारकर आगे निकल जायेगा, त्यों ही यह 'मानवतावादी' शब्दाडंबर एवं लफ्फाजी बेकार हो जायेगी और परमाणु युद्ध छिड़ने की संभावना बन जायेगी। अमेरिका आज क्यों भूमंडलीय युद्ध नहीं छेड़ रहा है—इसका कारण सोवियत संघ की न्यूक्लियर आयुधों में सामग्रिक श्रेष्ठता ही है। अमेरिका बखूबी जानता है कि सोवियत संघ की एक चपत भी उसके लिए झेलना कठिन होगा। न्यूक्लियर युद्ध के खिलाफ गारंटी इसी बात में निहित है, क्योंकि जब तक साम्राज्यवाद मौजूद है, युद्ध उन्मादी यहां हैं; फौजी हुकूमतें कायम हैं और पूंजीवादी-साम्राज्यवादी राज्यों को अर्थव्यवस्था के सैन्यीकरण के आधार पर संचालित किया जाता है—तब तक युद्ध एक वास्तविकता है और युद्ध की संभावना भी मौजूद है। अतः युद्ध को टालने की मुख्य गारंटियों में से एक गारंटी न्यूक्लियर शक्ति में सोवियत संघ और समाजवादी खेमे की श्रेष्ठता है। चीन ने सवाल किया कि सोवियत संघ ने न्यूक्लियर परीक्षण करना बंद

* तब तक चीन व सोवियत संघ आपसी टकराव में आकर अलग-अलग नहीं हुए थे।

क्यों किया? चीन ने यह भी तर्क दिया कि सोवियत संघ द्वारा अमेरिका को इतना ही बता देना उचित था कि वह तमाम परीक्षण करने और अपने आयुधों को नष्ट करने के लिए तैयार है, बशर्ते कि अमेरिका भी अपने तमाम अस्त्र-शस्त्रों को नष्ट करने के लिए तैयार हो जाये। यही कारण है कि उन्हें सिर्फ न्यूक्लियर परीक्षण को नियंत्रित करने की बजाय, संपूर्ण और समग्र निशस्त्रीकरण तथा तमाम न्यूक्लियर हथियारों को तबाह करने के बारे में बात करनी चाहिए थी। चीन ने सिर्फ परमाणु हथियारों पर नियंत्रण पर आपत्ति इसलिए की, क्योंकि इसका लाभ उठाकर, अमेरिका अपने और सोवियत संघ के बीच परमाणु शक्ति में विषमता एवं अंतर को दूर करने की कोशिश करेगा। विज्ञान के अन्य किसी क्षेत्र की भांति ही, प्रौद्योगिकी (टेक्नोलॉजी) के क्षेत्र में भी प्रगति एक ऐसी प्रक्रिया का अनुसरण नहीं करती है कि चूंकि आज सोवियत संघ इस दृष्टि से उन्नत है, तो यह श्रेष्ठता शुरू से आखिर तक हमेशा ही रहेगी। ऐसा चिंतन तो है ही अतिसरलीकृत और अवैज्ञानिक। इस प्रगति में उतार-चढ़ाव आ सकते हैं। यही कारण है कि हर किसी को इसके प्रति हमेशा चौकस व सावधान रहना चाहिए। विज्ञान व प्रौद्योगिकी में, लगातार चौकसाईं बरतना जरूरी है ताकि सोवियत संघ एक पल के लिए भी प्रौद्योगिकी व न्यूक्लियर विज्ञान में अमेरिका से इंच भर भी पिछड़ न जाये। वरना, समाजवादी खेमे पर किसी भी समय खतरे की गाज गिर सकती है। चीन के आग्रह व अन्य समाजवादी देशों के दबाव के कारण, सोवियत संघ ने फिलहाल तो यह बात स्वीकार कर ली, मगर इस स्वीकृति के बाद भी मतभेद बने रहे।

जब सोवियत संघ ने चीन से परमाणु हथियार बनाने से बाज आने के लिए दबाव डाला, तो चीन इस पर सहमत नहीं हुआ, क्योंकि उस समय भी चीन की कम्युनिस्ट पार्टी में कई एक व्यक्तियों को यह आशंका थी कि क्योंकि सोवियत संघ ने जिस रास्ते को चाहे-अनचाहे अपनाया है, उससे युद्ध का खतरा किसी भी रोज सच हो सकता है। इसका कारण यह है कि "हम युद्ध नहीं चाहते हैं" जैसे प्रवचनों व उपदेशों से युद्ध से नहीं बचा जा सकता है। चीनी नेतृत्व यह बात विशेष तौर पर समझाने की कोशिश कर रहा था कि सोवियत संघ का 'कोई युद्ध नहीं' का रवैया लगभग व्रत-अनशन और मंत्रोच्चारण द्वारा तथाकथित आत्म-शुद्धि के लिए धार्मिक अनुष्ठान करने जैसा ही था। मगर सच्चे क्रांतिकारियों की दृष्टि में 'कोई युद्ध नहीं' नारे का सिर्फ एक ही निहितार्थ हो सकता है और वह यह कि ऐसी ठोस व वस्तुगत

राजनीति व प्रोग्राम अमल में लाये जायें, जिनके जरिये साम्राज्यवादियों द्वारा युद्ध के लिए बांधे मनसूबों, खुफिया योजनाओं और युद्ध के लिए तैयारियों को नाकाम कर दिया जाये और साम्राज्यवाद-विरोधी ताकतों और आन्दोलनों की विजयों के माध्यम से साम्राज्यवाद को कोने में धकेल दिया जाये। अर्थात् असलियत में ही युद्ध की तमाम किस्म की तैयारियां रहते हुए भी, साम्राज्यवादी ऐसे युद्धों को छेड़ने की संभावना के विषय में पहले की तुलना में अपने-आप को अधिकाधिक प्रतिकूल व हानिकारक पोजीशन में पायें। इसका अर्थ यह है कि साम्राज्यवादियों को एक ऐसी कठिन पोजीशन में लाकर खड़ा कर दिया जाना चाहिए कि जिस समय वे युद्ध के लिए सामग्रिक तैयारियां करना और एक के बाद एक ऐसी योजनाएं तैयार करना जारी रखे हुए हों, तो विभिन्न देशों के लोगों के मुक्ति संग्रामों की सफलतापूर्वक परिणति के माध्यम से चंद वर्षों की अवधि के अंदर ही वे अपने-आप को अधिकाधिक अलग-थलग और अकेला पायें। ऐसी ठोस व वस्तुगत नीतियां अपनाना जरूरी हैं।

इस प्रकार, जबकि साम्राज्यवादी कभी यहां तो कभी वहां स्थिति को 'संभालने', खाई को कभी यहां तो कभी वहां पाटने की कोशिश में जुटे हों, तो उन्हें चंद सालों के अंदर ही निराश होना पड़े और पायें कि स्थिति और भी ज्यादा बिगड़ गयी है और कहीं-कहीं तो ऐसी दरारें भी पैदा हो चुकी हैं कि मामले 'संभालने' की उनकी सामर्थ्य से पहले ही बाहर जा चुके हैं। अर्थात् कभी कोई देश साम्राज्यवादी खेमे से बाहर निकल गया है, तो किसी दूसरे देश में क्रांति विजयी हो चुकी है और कोई अन्य देश उनके दायरे से छिटककर बाहर चला गया है और आर्थिक संकट अपने शिखर पर पहुंच गया है। इस प्रकार सभी पहलुओं से तमाम आन्दोलनों को समन्वित-संयोजित करके, साम्राज्यवाद को इतना ज्यादा कमजोर कर डालना जरूरी है ताकि युद्ध छेड़ने के लिए उनकी समूची साजिश एवं कुचक्र को ही परास्त कर दिया जाये।

अतः मुख्य दायित्व होने चाहिए:

पहला, औपनिवेशिक देशों में साम्राज्यवाद-विरोधी राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनों को और पूंजीवादी-साम्राज्यवादी देशों में लोगों के पूंजीवाद-विरोधी क्रांतिकारी आन्दोलनों को सुदृढ़ करना;

दूसरा, औपनिवेशिक देशों में इन राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनों और पूंजीवादी-साम्राज्यवादी देशों में लोगों के क्रांतिकारी आन्दोलनों को सुसम्बद्ध व समन्वित करना;

तीसरा, औपनिवेशिक देशों के राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनों और पूंजीवादी-साम्राज्यवादी देशों में क्रांतिकारी आन्दोलनों को राजनीतिक व कूटनीतिक रूप से, सभी पहलुओं से शांति आन्दोलन और समाजवादी खेमे की शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति पर आधारित आन्दोलन के साथ समन्वित एवं संयोजित करना तथा साम्राज्यवादियों की न्यूक्लियर ब्लैकमेलिंग की राजनीति के पीछे छिपे असली उद्देश्य का पूरी तरह पर्दाफाश करना;

चौथा, साम्राज्यवादी देशों के बीच द्वन्द्वों, साम्राज्यवाद और नव-स्वाधीन उभारशील राष्ट्रवादी देशों के बीच द्वन्द्वों तथा खुद नव-स्वाधीन उभारशील राष्ट्रवादी देशों के बीच द्वन्द्वों का लाभ उठाना-इन द्वन्द्वों का बारीकी से अध्ययन करना और इन्हें इस तरह इस्तेमाल करना ताकि साम्राज्यवाद को ज्यादा से ज्यादा कमजोर और अलग-अलग किया जा सके।

इस प्रकार, इस प्रोग्राम को सही तरह से अमल में लाकर, एक के बाद दूसरे देश में क्रांति करके और साम्राज्यवाद को इस तरह कोने में धकेल कर ही यह संभव हो सकता है कि जब साम्राज्यवाद युद्ध की स्कीम बनाते हुए वास्तविक रूप में कोई युद्ध छेड़ सके उससे पहले ही दुनिया के मानचित्र से साम्राज्यवाद का नामो-निशान मिट जाये। युद्धों के खतरे से विश्व को निजात दिलाने का एकमात्र व्यावहारिक रास्ता यही है। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद, यह ठोस स्थिति पैदा हुई थी। एक ऐसी स्थिति जिसमें साम्राज्यवाद द्वारा युद्ध की पूरी तैयारियों में सक्षम होने से पहले ही एक देश के बाद दूसरे में साम्राज्यवाद-पूंजीवाद का खात्मा करके युद्धों की संभावना को मुकम्मिल तौर पर खत्म किया जा सकता था। यदि वह संभव न भी होता, तो भी कम-से-कम ऐसे कदम उठाये जाने की जरूरत तो थी ही, जिनके जरिये तमाम देशों में क्रांतिकारी संग्रामों की सफलता व दबदबे द्वारा पूंजीवादी देशों को नकेल डालने के लिए बहुत से पूंजीवादी देशों की घेराबंदी की जा सकती थी ताकि युद्धों को छेड़ने की स्थिति वस्तुगत रूप से उन्हें मिले ही नहीं, और, युद्धों को रोकने का एकमात्र तरीका यही है। मगर खुश्चेव के नेतृत्व में सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी की लीडरशिप ने एक तरह से अनशन व व्रत का तरीका, अर्थात् अनुरोधों-निवेदनों व अपीलों का कुछ निरर्थक, अनुपयोगी व थोथी बातों का तरीका चुना, जिसकी तरफ शैतान आदमखोर बाघ जैसे साम्राज्यवादी कोई तबज्जो ही नहीं देते।

साम्राज्यवादी शासक मंडली पूरी शैतान होती है। इसीलिए यह बात हमेशा याद रखनी जरूरी है कि किसी भी साम्राज्यवादी देश में, एक

प्रशासक चाहे वह व्यक्तिगत रूप से बदमाश व दुष्ट न भी हो, साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था व राजनीति की अत्यावश्यकताओं (exigencies) द्वारा संचालित होने की वजह से युद्ध के लिए तैयारी करने के सिवा उनके पास दूसरा विकल्प ही नहीं बचता है। एक ऐसे देश में सत्तासीन कोई व्यक्ति विशेष भला या बुरा है—यहां यह सवाल तो है ही नितांत अप्रासंगिक। चाहे एक मनुष्य व्यक्तिगत रूप से भला या ईमानदार क्यों न हो, इसका अर्थ यह तो नहीं है कि वह जन-हितैषी रवैये एवं मनोभाव के साथ ईमानदारी से एक स्वच्छ प्रशासन चला सकता है। उस देश के मिलिटरी जनरलों यानी सेनापतियों, जंगखोरों अर्थात् एकाधिकार पूंजीपतियों को उस समय तक कोई भी रास ही नहीं आयेगा, जब तक वह युद्ध अर्थव्यवस्था को संवर्धित करने व परवान चढ़ाने पर रजामंद न हो। इस तथ्य के बावजूद कि वह एक मानवतावादी है और उसका दृष्टिकोण नरम एवं लचीला है—वह राजनीतिक रूप से चाहे जो भी लाइन क्यों न अपनाये, जब तक वह युद्ध अर्थव्यवस्था के साथ संगति या लाइन में बुनियादी तौर पर अर्थव्यवस्था को ठीक तरह से व्यवस्थित रूप न दे पाये, तो एकाधिकारी पूंजीपति उसे दूध में से मक्खी की भांति बाहर निकाल फेंकेंगे। ऐसा इसी वजह से होता है, क्योंकि एकमात्र वे ही सत्ता के असली संचालक हैं। इस मामले में, वे किसी व्यक्ति पर भरोसा नहीं कर सकते। यदि किसी पूंजीवादी-साम्राज्यवादी देश में एक प्रशासक भला, मानवीय और नेकदिल इंसान है भी तो इससे क्या फर्क पड़ता है? वह इस व्यवस्था में लाचार-विवश रहता है और व्यावहारिक रूप में शक्ति-विहीन होता है। या तो उसे इस व्यवस्था की सेवा करनी पड़ती है, या अगर वह ऐसा न कर पाये तो उसे सत्ता छोड़नी पड़ती है, क्योंकि असली सत्ता को कंट्रोल करने वाले लोग उसे बर्दाश्त नहीं करेंगे। वे उसे चलता कर देंगे। इसके लिए हो सकता है कि एक राजनीतिक हत्या भी करवाई जा सकती है, लेकिन यह निश्चित है कि वह सत्ता में नहीं बना रहेगा और साम्राज्यवादी अंततः अपने पसंदीदा रास्ते पर ही डटे रहेंगे।

दूसरे विश्व युद्धोत्तर काल में, ऐसी स्थिति पैदा हो गयी थी कि मैंने एक दफा यह राय प्रकट की थी कि हम एक मायने में विश्व क्रांति की लगभग दहलीज तक पहुंच गये थे—उससे सिर्फ कुछ गज की दूरी पर ही थे, कि ठीक उसी समय विश्व साम्यवादी आन्दोलन एक भुल-भलैया में फंस गया। अर्थात् स्थिति ऐसी थी कि एक देश के बाद दूसरे देश में क्रांति के विजयी होने की शानदार संभावना थी। साम्राज्यवाद की प्रतिरोध करने की

ताकत पूरी तरह तहस-नहस कर दी गयी थी। यूरोप के तमाम साम्राज्यवादी देश उस समय युद्ध से जर्जरित थे। वे क्षमता से कम उत्पादन कर रहे थे। वे अपने लोगों का भरण-पोषण करने में भी सक्षम नहीं थे। उपनिवेशों में साम्राज्यवाद-विरोधी मुक्ति संग्रामों का तूफान हिलोरें ले रहा था। फलस्वरूप, वे अपने-अपने देशों के मजदूर वर्ग को संतुष्ट रखने में सक्षम नहीं थे। उस समय तक उन्होंने औपनिवेशिक बाजारों को लूटकर अपने मजदूर वर्ग को शांत व संतुष्ट रखने की कोशिश की थी। फलस्वरूप, उन देशों में दिखावटी एवं आभासी शांति एवं खामोशी थी। मगर बहुत-से देशों द्वारा साम्राज्यवाद के जुए से मुक्त हो जाने और वहां नये उद्योगों की स्थापना हो जाने के कारण उन नव-स्वाधीन उभारशील राष्ट्रवादी देशों में साम्राज्यवादी शोषण की संभावना कम हो जाने पर कुदरतन साम्राज्यवादी देशों पर जबर्दस्त दबाव आ गया था। वस्तुतः समूची अमेरिकी अर्थव्यवस्था ही बालू रेत पर खड़ी है। स्थिति ऐसी है कि वह किसी भी क्षण धड़ाम से नीचे गिर सकती है। उसकी समूची अर्थव्यवस्था युद्ध अर्थव्यवस्था पर टिकी हुई है। इस समय जिस प्रकार के युद्ध पर आश्रित होकर वह अपना आर्थिक स्थायित्व बनाए हुए है, वह युद्ध एक स्थानीय, आंशिक व अल्पकालिक मामला है—वह लम्बे अरसे तक नहीं चल सकता। मगर वह इन स्थानीय युद्धों को मुख्य रूप से इसीलिए जारी रख सकता है, क्योंकि राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन अभी भी विजयी नहीं हुए हैं। इस प्रकार, विभिन्न औपनिवेशिक व आश्रित देशों के राष्ट्रीय मुक्ति संग्रामों की विजय जिस क्षण सम्पन्न हो जाती है, उसी क्षण साम्राज्यवादियों द्वारा युद्ध छेड़ने के अवसर भी कम हो जायेंगे। इसलिए, सोवियत संघ के नेतृत्व में समाजवादी खेमे का काम शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति का अनुसरण करने पर उन्हें मजबूर करना था।

शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व और उसका क्रांतिकारी तात्पर्य

आखिर, शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की इस नीति का उद्भव कैसे हुआ? साम्राज्यवादी हमेशा इस प्रॉपगैंडे का सहारा लेते हैं कि कम्युनिस्ट तो विश्व पर जबरदस्ती कम्युनिज्म को थोप रहे हैं। इस दुष्प्रचार के जवाब में कॉमरेड स्तालिन ने शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व का सिद्धांत प्रतिपादित किया था। इस साम्राज्यवादी प्रॉपगैंडे के जवाब में कि कम्युनिस्ट तो युद्ध के जरिये विभिन्न देशों में जबरदस्ती कम्युनिज्म की स्थापना करना चाहते हैं—कॉमरेड स्तालिन ने कहा कि यह तो सफेद झूठ है; कोई भी समाजवादी देश ऐसे सिद्धांत और

पद्धति में कतई विश्वास नहीं करता है। इसके अलावा दूसरे महायुद्ध के बाद, अमेरिका ने हाय-तोबा मचानी शुरू कर दी कि उसका तो अस्तित्व ही खतरे में है और कम्युनिस्ट ही उसके अस्तित्व को खतरा पैदा कर रहे हैं। इस कथन से अमेरिका का आशय यह था कि उस समय सोवियत संघ का प्रतिरोध करना ही उसकी नीति थी। इसके जवाब में सोवियत संघ ने कहा नहीं, यह सच नहीं है कि सोवियत संघ से उनका अस्तित्व खतरे में है। सोवियत सामरिक शक्ति उनके लिए खतरा पेश नहीं करती है; समाजवादी खेमा उन्हें हस्ताक्षरित कोरा चैक देने के लिए तैयार है कि यदि सोवियत संघ पर हमला किया जाता है, तभी वह जवाबी हमला करेगा; वरना वह किसी को छुएगा भी नहीं और किसी भी देश के अंदरूनी मामलात में कभी हस्तक्षेप नहीं करेगा। मगर साम्राज्यवादियों को भी, इस चैक पर अपने दस्तखत करने होंगे और इसका पाबंद रहना होगा। साथ-साथ उन्हें यह घोषणा करनी होगी और यह आश्वासन देना होगा कि वे भी किसी देश के लोगों का दमन-उत्पीड़न करने के लिए वहां जबरदस्ती काबिज नहीं रहेंगे, किसी भी देश पर हमला नहीं करेंगे, अकारण आक्रमण नहीं करेंगे, और जबरदस्ती कब्जा करके उसे अपने साथ अंगीभूत (annex) नहीं करेंगे। तब सोवियत संघ उनके साथ नहीं उलझेगा और दूसरे देशों में साम्राज्यवादी हस्तक्षेप व आक्रमण का प्रतिरोध किये जाने का सवाल भी किसी तरह पैदा ही नहीं होगा। इसका अर्थ होगा कि कोई भी किसी भी देश के अंदरूनी मामलों में दखलअंदाजी नहीं कर सकेगा।

कम्युनिस्ट जानते हैं कि क्रांति का न तो आयात किया जा सकता है और न ही निर्यात। यदि देश-विशेष के अंदर की ताकतें क्रांति की अजेय शक्ति की सृष्टि नहीं कर सकें तो बाहरी छेड़छाड़ व उकसावों द्वारा क्रांति के नाम पर कुछ दिन के लिए “बंदर-नाच” तो हो सकता है, मगर वास्तविक एवं आमूल क्रांति नहीं हो सकती। किसी देश में क्रांति सिर्फ तभी सफल हो सकती है, जब वह लोगों को आकर्षित करे, उस देश विशेष की धरती में मजबूत जड़ जमा सके और उस देश-विशेष के अंदर से अनिवार्य शक्ति संचित करके क्रांति की ताकतों को विकसित करने में मददगार हो सके। किसी देश में क्रांति की फतह सिर्फ तभी हो सकती है जब ऐसी परिस्थितियां पैदा कर दी जायें। तभी बाहरी सहायता उसकी शक्ति में वृद्धि कर सकती है; बस सिर्फ इतना ही संभव है। लेकिन किसी देश में जब तक क्रांतिकारी ताकतें अपनी-अपनी धरती से पुष्टिकारक खुराक और पोषण

हासिल न कर सकें, तो क्रांति की अजेय शक्ति अर्जित नहीं कर सकती हैं। उदाहरण के लिए, वियतनाम की क्रांतिकारी शक्ति बाहरी मदद पर संपोषित, आधारित एवं आश्रित नहीं है और उसका संपोषण बाहर से नहीं किया गया है। यदि ऐसा होता तो अमेरिकी सामरिक शक्ति उसे फौरन चकनाचूर कर डालती। मगर ऐसा इसीलिए नहीं किया जा सका, क्योंकि वहां क्रांति अपने देश की भूमि से अपनी जीवन-शक्ति एवं ओजस्विता जज्ब कर जन्मी और विकसित हुई थी तथा वहीं से अपने-आप को संपुष्ट बनाए रखा था। वहां तो एक 9 साल का बालक भी हाथ में रायफल लेकर लड़ाई में शामिल हो जाता है—मां, पुत्र, पुत्री, सभी ने हथियार उठा लिये हैं। खेतों में खेती-बाड़ी का कार्य करते समय भी, वे अपनी रायफलों से हवाई जहाजों को नीचे मार गिराते रहते हैं। इसलिए, क्या यह क्रांति के नाम पर पर चंद लोगों का छिछोरापन और बाहर से प्रेरित कृत्य है? जी नहीं। उसकी जड़ें तो उस देश की धरती के अंदर गहरे जम चुकी हैं, वहां लोगों के अंदर क्रांतिकारी चेतना पनप चुकी है और वे क्रांतिकारी चेतना से लैस हो चुके हैं। यह सच है कि सोवियत संघ, चीन, समूचे तौर पर समाजवादी खेमा, विश्व के तमाम प्रगतिशील लोग, जो मुक्ति की आकांक्षा रखते हैं, वियतनाम के मुक्ति संग्राम का समर्थन करते हैं।

मगर वियतनामी लोगों के मुक्ति-संग्राम के लिए क्या यह समर्थन वियतनाम के अंदरूनी मामलों में दखलअंदाजी है? सर्वविदित है कि जिस तरह ज्ञान, विज्ञान, सिद्धांत आदि की कोई भौगोलिक या राष्ट्रीय सीमा नहीं होती है, उसी तरह प्रगति के लिए आन्दोलन के प्रति सहानुभूति रखने हेतु कोई भौगोलिक या राष्ट्रीय सीमाएं, दीवारें एवं अवरोधक नहीं हो सकते हैं। मैं पुनः याद करा सकता हूं कि एक दफा कांग्रेसियों ने फासीवाद के खिलाफ स्पेन के स्वतंत्रता संग्राम के लिए जवाहर लाल नेहरू के नेतृत्व में वालंटियर भेजने चाहे थे। वह स्पेन का अंदरूनी मामला था। लेकिन फिर भी उन्होंने वालंटियर क्यों भेजने चाहे थे? इसका कारण यह है कि यह प्रतिक्रियावाद के खिलाफ लोगों का एक प्रगतिशील संग्राम था। उन स्वतंत्रता संग्रामों की मदद करना समूचे विश्व-भर के तमाम स्वतंत्रता-प्रेमी लोगों का फर्ज है, जो भी कभी असली स्वतंत्रता के लिए लड़ें थे या आज लड़ रहे हैं, जो अभी भी स्वतंत्रता की कद्र करते हैं। मगर आजादी सिर्फ दूसरों की मदद से तो कहीं भी हासिल नहीं की जाती है। हरेक देश को खुद अपने बूते पर अपनी आजादी अर्जित करनी पड़ती है। यदि कोई व्यक्ति अपनी

खुद की आजादी के लिए आकांक्षा करता है, तो वह निश्चित रूप से दूसरों के द्वारा लड़े जा रहे स्वतंत्रता आन्दोलनों के लिए सहानुभूति का इजहार व समर्थन करना चाहेगा। जो कोई भी समर्थन कर सकता है, वह अवश्य ही करेगा। मगर दूसरे उनके लिए वहां जाकर उनके लिए स्वतंत्रता तो अर्जित नहीं कर सकते। उन्हें खुद ही संग्राम करना होगा और अपनी खुद की स्वतंत्रता हासिल करनी पड़ेगी। जब वे वहां की मिट्टी से शक्ति अर्जित कर सकेंगे, सिर्फ तभी वे अपराजेय हो सकते हैं।

कम्युनिस्टों का सिद्धांत व अवधारणा तो यही है। इसी पर कम्युनिज्म का एक बुनियादी मतवाद (tenet) निर्मित किया गया – “क्रांति का न तो आयात, और न ही निर्यात किया जा सकता है।” मार्क्सवाद या द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के मूलभूत सिद्धांतों में से एक सिद्धांत, जिससे यह मतवाद आया वह इस प्रकार है—“पदार्थ के परिवर्तन का बुनियादी कारण अंदरूनी द्वन्द्व होता है, जबकि बाहरी द्वन्द्व सिर्फ उस परिवर्तन को प्रभावित करता है या प्रभावित कर सकता है।”

मगर जब तक अंदरूनी द्वन्द्व परिपक्व न हो जाये, अर्थात्, जब तक अंदरूनी परिस्थिति पूरी तरह तैयार न हो जाये, कोई भी परिवर्तन या क्रांति हो ही नहीं सकती। अतः किसी देश में क्रांति हो जाने के लिए, कम्युनिस्टों को बाहर से जल्दबाजी में उसे थोपने की जरूरत नहीं पड़ती। इसका कारण यह है कि मार्क्सवाद, यानी असली मार्क्सवाद की मुख्य धारा में, सिवाय ट्रॉट्स्की के चिंतन में, बाहर से सामरिक कार्रवाई के जरिये क्रांति का निर्यात करने की अवधारणा की कतई कोई गुंजाइश ही नहीं है। इस अवधारणा के लिए न तो स्तालिन के चिंतन में, न ही चीन के नेतृत्व के चिंतन में कोई भी स्थान था। न ही यह किसी भी असली कम्युनिस्ट का चिंतन हो सकता है। यह तो सिर्फ ट्रॉट्स्की का ही चिंतन था। ट्रॉट्स्की का दावा यह था कि एक देश-विशेष में समाजवाद की स्थापना के बाद, उसका प्राथमिक कर्तव्य दूसरे देशों में सेना भेजकर वहां क्रांति का निर्यात करना है। ट्रॉट्स्की द्वारा प्रस्तुत एवं प्रतिपादित वह “स्थायी क्रांति” का सिद्धांत था। मगर इसके खिलाफ जो लेनिनवादी सिद्धांत, मार्क्सवादी सिद्धांत प्रतिष्ठित किया गया, वह यह है कि अगर इस तरीके से दूसरे देशों के लोगों पर थोपे जाने के माध्यम से क्रांति का प्रयास किया जाता है, तो उन देशों के बर्जुआ वर्ग अपने देश के लोगों के अंदर राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए मनोभावना का खुद क्रांति के ही खिलाफ इस्तेमाल करेंगे। वे इसे आक्रमण की संज्ञा देंगे और,

परिणामस्वरूप सहज-स्वाभाविक प्रक्रिया में उस देश में विकसित हो रहे क्रांतिकारी आन्दोलन को जबरदस्त हानि पहुंचेगी। यह तो क्रांति के नाम पर उग्रवाद है और क्रांति की वास्तविक प्रक्रिया कतई नहीं है। इसके अलावा, मैं एक अन्य बात पर चर्चा करना जरूरी समझता हूं। शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व का सिद्धांत खुश्चेव ने नहीं स्तालिन ने ही प्रतिपादित किया था। लेनिनवादी शिक्षाओं के आधार पर, स्तालिन के समय ही यह सिद्धांत विकसित किया गया था। इस समय खुश्चेव ने तो उसे पतित कर डाला है, मगर हाव-भाव एवं दिखावा ऐसे कर रहे हैं मानो यह उन्हीं के द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत हो। लेकिन मार्क्सवाद-लेनिनवाद के छात्रों को इस तरीके से चकमा नहीं दिया जा सकता। उन्हें बखूबी मालूम है कि इस सिद्धांत को वस्तुतः स्तालिन ने ही सूत्रित एवं रूपायित किया था, खुश्चेव ने नहीं।

अतः यह स्पष्ट है कि शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व का सिद्धांत साम्राज्यवादी प्रॉपगैंडे का मुकाबला करने हेतु अस्तित्व में आया। इस सिद्धांत के जरिये सोवियत संघ ने विश्व के लोगों को यह बताना चाहा कि वह शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व के उसूल का अनुसरण करने, उसका पाबंद रहने के लिए तैयार है, लेकिन उन्हें वैसा करने के लिए अमेरिका को भी तो मजबूर करना चाहिए। जब कि स्वतंत्रता की रक्षा करने की दलील पर अमेरिका इधर-उधर दौड़ता फिर रहा है, क्या सोवियत संघ स्वतंत्रता की रक्षा करने या प्रतिक्रियावाद का दमन करने की उसी दलील पर कहीं भी उस तरीके से जा रहा है? अमेरिका की तरह, क्या सोवियत संघ ने किसी भी देश में अपने सैन्यदल भेजे हैं या उस पर बमबारी द्वारा हमला किया है? क्या इस वक्त ऐसा एक भी उदाहरण है कि सोवियत संघ किसी भी देश में अमेरिका की सामरिक दखलअंदाजी का जवाब देकर उसे रोकने के लिए दौड़ा गया हो, जो हस्तक्षेप, सोवियत संघ की दृष्टि में मुकम्मिल तौर से निहायत ही प्रतिक्रियावादी हो? इसके अतिरिक्त, विश्व स्वतंत्रता का संतरी बनने की भूमिका अमेरिका को किसने सौंपी है? इसलिए, सोवियत संघ ने घोषणा की कि हरेक देश के लोगों को अपना भविष्य खुद निर्धारित करने दिया जाये। कौन-सा देश कम्युनिज्म का अभिनंदन करता है और कौन-सा देश अब्राहम लिंकन के लोकतांत्रिक आदर्शों का परचम बुलंद करता है—वे किधर जाते हैं—इसका फैसला खुद उस देश-विशेष के लोगों को ही करने दीजिए। विभिन्न देशों में पूंजीपतियों और मजदूर वर्ग के बीच, प्रतिक्रियावादियों और प्रगतिशील लोगों के बीच संग्राम में, हरेक देश के लोगों को शोषकों,

उस देश-विशेष के बुर्जुआ वर्ग के खिलाफ यह संग्राम करने दीजिए। लोकतंत्र की रक्षा करने के नाम पर साम्राज्यवादियों को दूसरे देशों पर आक्रमण न करने दें। जहां तक सोवियत संघ का सवाल है, वैसा करने की उसे कतई कोई जरूरत ही नहीं है—वह कोरा चैक दे सकता है। मगर साम्राज्यवादियों को भी वचन देना होगा कि वे भी दूसरे देशों पर हमला नहीं करेंगे।

मुझे याद है कि जब स्तालिन ने सर्वप्रथम शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व के इस सिद्धांत को प्रतिपादित किया तो हमारे देश के ट्रॉट्स्कीवादियों ने गुरांकर कहा कि यह तो वर्ग-सहयोग की नीति के सिवा कुछ भी नहीं है। उनका मुद्दा था—साम्राज्यवादियों, फासिस्टों या पूंजीपतियों के साथ शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व भला कैसे हो सकता है? उनकी राय में यह वर्ग-समझौते की नीति के सिवा कुछ भी नहीं है। मैंने उन्हें स्पष्ट रूप में दिखाया कि उन्होंने तो शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति के मुद्दे को कतई समझा ही नहीं है। क्या वे लोग ‘स्थायी क्रांति’ की थैली के चट्टे-बट्टे नहीं हैं, जो आज तो ‘स्थायी क्रांति’ की जोर-शोर से बातें बनाते हैं और अगले ही रोज कम्युनिस्टों का विरोध करने हेतु अमरीकन फ्री सोसाइटी की सूची में अपना नाम दर्ज करा लेते हैं? और, उनके साथ हुआ भी यही है। सभी को समझ लेना चाहिए कि शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति कभी भी वर्ग-समन्वय की नीति नहीं होती है। दरअसल यह तो अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिक्रांति के संगठित हमलों से विभिन्न देशों के क्रांतिकारी आन्दोलनों को मुक्त करने और शांति की गारंटी देने के लिए एक वस्तुपरक समाजवादी दृष्टिकोण है। यह एक ऐसी नीति है, जिसके समर्थन में न सिर्फ पूंजीवादी देशों के लोग अनुकूल प्रतिक्रिया करेंगे, बल्कि पूंजीपतियों में से भी एक गुप इसके प्रति अनुकूल अनुक्रिया करेगा। दूसरी ओर, इसके द्वारा, पूंजीपतियों के अंदर जो जंगखोर, युद्ध-उन्मादी हैं, वे भी पूरी तरह अलग-थलग, अकेले कर दिये जायेंगे और एक कोने में धकेल दिये जायेंगे। इस नीति की कारगरता यह है कि विभिन्न देशों में वे ताकतें भी, जो कम्युनिस्ट विचारधारा से सहमत नहीं हैं मगर युद्ध का विरोध करती हैं—वे भी युद्ध का प्रतिरोध करेंगी यदि युद्ध उनके देश में छिड़ जाये और वे भी शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व के इस उसूल को मनवाने के लिए साम्राज्यवादियों पर दबाव डालेंगी। साम्राज्यवादी जो हो-हल्ला मचा रहे हैं कि कम्युनिस्टों ने उनके अस्तित्व को ही खतरा पैदा कर दिया है—लोगों के यही हिस्से मुंहतोड़ जवाब देंगे कि क्योंकि समाजवादी खेमा एक कोरा चैक दे

रहा है कि वह किसी भी देश के अंदरूनी मामलों में दखलअंदाजी नहीं करेगा, तो साम्राज्यवादी उस पर खुले रूप में हमला क्यों करेंगे। वे खुद ही यह इलजाम लगाएंगे कि अमेरिकी एजेंसी, सी.आई.ए. ही विभिन्न देशों में उपद्रव भड़का और उकसा रही है।

साम्राज्यवादी भी उसी तरह वैचारिक प्रॉपगैंडा करें ठीक जिस तरह समाजवादी खेमा अपनी विचारधारा का प्रचार करता है। लेकिन अमेरिका तो यह नहीं कर रहा है। वह सी.आई.ए. को अन्य देशों में भेज रहा है और दूसरे देशों के अंदरूनी मामलों में अपनी ‘‘पैसे व हिंसा’’ (cash and violence) की नीति के माध्यम से अपनी टांग अड़ा रहा है। वे समाजवादी खेमे के इस जुर्म का दोषी होने का कोई भी विश्वसनीय सबूत पेश करने में समर्थ नहीं हुए हैं, मगर वे यह झूठा प्रॉपगैंडा फैला रहे हैं कि समाजवादी देश भी सी.आई.ए. की तरह ही दूसरे देशों में देशद्रोहियों (घर के भेदियों) को तैयार करके कार्रवाई कर रहे हैं। यह नितांत एक धिनौने राजनीतिक निंदा अभियान के सिवा कुछ नहीं है। विभिन्न देशों में जो लोग कम्युनिज्म में विश्वास करते हैं और उसका प्रचार करते हैं, साम्राज्यवादियों द्वारा उन्हें देशद्रोही कहा जाता है। मेरा सवाल तो यह है कि क्या जीवन में एक महान् विचारधारा को मानना और उसके लिए जी-जान से संघर्ष करना किसी को किसी का पिट्टू बना देता है। अगर ऐसा है, तो बुर्जुआ लोकतंत्र की अवधारणा की स्वीकृति देने पर हर कोई या तो अमेरिका का या ब्रिटेन का समान रूप से पिट्टू बन जाता है। इसके अलावा, जब हम बिजली का इस्तेमाल करते हैं, तब भी हम क्या इसी वजह से किसी अन्य देश के पिट्टू बन जाते हैं, क्योंकि एक भारतीय वैज्ञानिक ने तो बिजली का आविष्कार किया नहीं है। इस तरीके से तर्क करने वालों को कैसे समझाया जाये कि ठीक जिस तरह विज्ञान को एक अकेले देश की सीमा में कैद नहीं किया जा सकता है, क्योंकि इसका तो कोई अपना खुद का देश होता ही नहीं है, उसी तरह सिद्धांत, दर्शन, ज्ञान आदि का भी कोई अपना खुद का देश या राष्ट्र होती ही नहीं। कम्युनिज्म भी एक विचारधारा ही तो है—भला उसे भी देशों व राष्ट्रों की दीवारों या अवरोधों में सीमित कैसे रखा जा सकता है? जो इस विचारधारा को पसंद करें, वे इसे स्वीकार करें, जब रूस ने सर्वप्रथम कम्युनिस्ट विचारधारा को अंगीकार किया तो उसे भी इस आरोप का सामना करना पड़ा था कि इस विचारधारा का जन्म क्योंकि पहले जर्मनी में हुआ था, इसलिए इस विचारधारा को अपना करके, रूसी

लोग भी जर्मनी के पिट्टू बन गये हैं। हरेक व्यक्ति जानता है कि इस विचारधारा का जन्म जर्मनी में हुआ था न कि रूस में। इस विचारधारा के संस्थापक, कार्ल मार्क्स को अपने ही वतन जर्मनी से जलावतन करके बाहर खदेड़ दिया गया था और बाद में उनका देहांत इंग्लैंड में हुआ था। इस विचारधारा को विकसित करने वाले मार्क्स के घनिष्ठ सहयोगी, एंगेल्स भी जर्मनी में जन्मे थे। इस तरह हम देखते हैं कि इस विचारधारा की जननी तो जर्मनी है, मगर क्रांति के माध्यम से रूस ने इस विचारधारा को चार चांद लगाये। रूस के बाद, चीन ने इस मार्क्सवादी विचारधारा से निर्देशित होकर ही क्रांति को संगठित किया। चीनी क्रांति के वक्त, चीन को सोवियत संघ के पिछलग्गू के रूप में निन्दित करते हुए दोषी करार दिया गया। यह कहा गया कि इसके माध्यम से सोवियत साम्राज्यवाद अपने इलाके का विस्तार कर रहा है। यह सब झूठा प्रचार है। लोगों की चेतना के निम्न स्तर का लाभ उठाकर लोगों को भ्रमित करने की भी एक सीमा होनी चाहिए। लोगों की राजनीतिक चेतना में कमी और उसके फलस्वरूप उनकी कमजोरियों का लाभ उठाकर, साम्राज्यवादी तो उस सीमा को भी लांघ रहे हैं। इसका कारण यह है कि आम लोग न तो इस सबके बारे में आम तौर पर सोच-विचार करते हैं और न ही वे इन समस्याओं पर ध्यानपूर्वक चिंतन-मनन ही करते हैं। वे सतही तौर पर बात करते हैं और सोचते हैं। वे तो देश की मुख्य समस्याओं की प्रकृति और वहां की राजनीति के रुझानों तक के बारे में गौर से नहीं सोचते हैं।

इसके अलावा, इतिहास ने असंदिग्ध रूप से साबित कर दिया है कि वस्तुतः पिट्टू कौन हैं। किसी भी देश में वास्तविक गुणों के धनी तमाम कम्युनिस्ट किसी भी व्यक्ति के कभी पिट्टू रहे ही नहीं हैं। हर जगह सच्चे कम्युनिस्ट स्वतंत्रता के महान आदर्श के लिए, देश की मुक्ति के लिए संग्रामरत रहे हैं। मूल बात यह है कि तमाम किस्म के शोषण से जनसाधारण को मुक्त करने हेतु वे संग्राम कर रहे हैं—वे ही तो अपनी धरती की सर्वाधिक योग्य व श्रेष्ठ संतानें हैं। हम जानते हैं कि बुर्जुआ वर्ग, प्रतिक्रियावादी लोग इस बात को स्वीकार नहीं करेंगे। उनका स्वार्थ ही अलग है, इसलिए वे एक अलग तरीके से बातें भी बनाते हैं। वस्तुतः वे उन्हीं को देशप्रेमी कहते हैं, जो रीढ़विहीन बुजदिल हैं, जिनका कोई दीन-ईमान नहीं है, जिनकी कोई ज़मीर नहीं है जो रुपये के एवज में एक मनुष्य के तमाम उदात्त व श्रेष्ठ गुणों का सौदा कर लेते हैं। चाहे जिन भी उत्कृष्टताओं का

सेहरा इन लोगों के सिर पर साम्राज्यवाद बांधना चाहे, बांधता रहे, मगर सोवियत स्टैंड तो यह था कि एक अन्तर्राष्ट्रीय समझौता हो जाये कि वे कहीं भी ऐसे 'देश-प्रेमियों'(!) के समर्थन में नहीं आयेंगे। सोवियत संघ ने वचन दिया कि वह उन लोगों के समर्थन में भी नहीं जायेगा, जिन्हें वे जानते हैं कि वे ही क्रांतिकारी, उस देश की यशस्वी व सर्वश्रेष्ठ संतानें हैं। साम्राज्यवादियों को क्या यह शर्त मंजूर थी? यदि वे इससे सहमत हैं, तो वे इस समझौते पर दस्तखत करें। शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति का अनुसरण करने का वास्तविक अर्थ यही था, अर्थात् इसका आशय यह था कि साम्राज्यवादियों पर शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति को थोपना जरूरी हो गया था, इसे मानने पर उन्हें मजबूर कर देना अनिवार्य हो गया था। इसका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिक्रांतिकारी ताकतों के षड्यन्त्रों और हमलों से विभिन्न देशों के क्रांतिकारी आन्दोलनों की रक्षा करना था।

यदि हम चीनी क्रांति का मामला ही लें, तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि उन्हें कितनी दुरूह कठिनाई को भुगतना पड़ा। किसे पता नहीं है कि उनके पास जो शक्ति-सामर्थ्य थी, वह एक ही धमाके में च्यांग काई-शेक की ताकत को तबाह कर सकती थी। मगर अपनी समस्त सामरिक व आर्थिक शक्ति के साथ अमेरिका ने च्यांग काई-शेक की मदद करके उसका हौसला बुलंद रखा। इसलिए क्या चीनी लोग एकमात्र च्यांग काई-शेक के ही खिलाफ लड़े थे? उन्हें तो प्रशांत महासागर में मौजूद समूची अमेरिकी सामरिक शक्ति के खिलाफ और अन्तर्राष्ट्रीय पूंजीवाद के समग्र प्रतिक्रांतिकारी हमले के खिलाफ लोहा लेना पड़ा था। शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति का उद्देश्य ऐसे साम्राज्यवादी हमलों पर रोक लगाना था। किसी भी समाजवादी देश को दूसरे देशों में क्रांतियों का निर्यात करने की कोई जरूरत नहीं है। किसी भी देश में, अपने पक्ष में बहुसंख्यक लोगों को आकर्षित एवं शामिल कर के ही क्रांति विजयी होती है। इसलिए खुद अपने-आप में ही वह अजेय ताकत है। अपनी क्रांति की विजय के लिए रूसियों की मदद भला किसने की थी? किसी ने भी तो नहीं। मगर क्रांति के बाद, तमाम दिशाओं से घेराबंदी और हमला करके भी साम्राज्यवादी देश नवजात सोवियत राज्य को तबाह नहीं कर सके। आज स्थिति वैसी नहीं है। अब तो एक देश से अन्य देश में क्रांति की जीत का डंका बजाने का समय है। अब, कोई भी किसी देश के क्रांतिकारी आन्दोलन को पराजित नहीं कर सकता है। हरेक देश में क्रांतिकारी ताकतों का आज प्रतिरोध नहीं किया जा सकता। उन्हें

अपनी विजय की खातिर, शायद ही किसी बाहरी सहायता की जरूरत पड़े। उन्हें तो सिर्फ अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिक्रांतिकारी हमलों से ही बचाने की जरूरत है। वियतनामी लोगों की ही मिसाल ले लीजिए। चाहे समाजवाद, चाहे लोकतंत्र या अन्य किसी किस्म के स्वाधीन राज्य की स्थापना वे अपने देश में करना चाहते हों, यह गारंटी देना जरूरी है कि अपने खुद के देश में प्रतिक्रियावादी ताकतों को परास्त करके ही वे ऐसा कर सकें। मगर असलियत में क्या हुआ? अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिक्रियावाद यानी अमेरिका, ब्रिटेन व अन्य ताकतवर व विकसित पूंजीवादी-साम्राज्यवादी देशों ने अपनी समस्त शक्ति के साथ उस देश के अंदर मौजूद प्रतिक्रियावादी ताकतों के पीछे अपने-आपको पंक्तिबद्ध कर लिया जिन ताकतों को वियतनामी लोग तुरंत ही बाहर खदेड़ सकते थे। इसलिए, अब निहत्थे वियतनामी लोगों को अकेले अपने दम पर ही अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिक्रियावाद की संयुक्त ताकतों के खिलाफ लड़ना पड़ा है। इसका अर्थ यह है कि आज हर एक देश में निहत्थे लोगों के क्रांतिकारी आन्दोलन को तमाम अत्याधुनिक अस्त्र-शस्त्रों से लैस शक्तिशाली अन्तर्राष्ट्रीय साम्राज्यवादी सामरिक ताकत से असली रूप में लोहा लेना पड़ता है, और इसीलिए क्रांतियां आगे नहीं बढ़ पाती हैं। यही वजह है कि शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति का वास्तविक तात्पर्य बाहरी लुटेरी ताकतों के हस्तक्षेपों से शोषित जनसाधारण की क्रांति के इस विजय अभियान की, विभिन्न देशों में स्वतंत्रता संग्राम व समाजवाद की ओर विजय अभियान की रक्षा करना ही था।

मगर खुश्चेव ने शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति को एक ऐसी अवस्था में परिणत कर डाला कि इसका अर्थ यह रह गया है कि समाजवादी व साम्राज्यवादी दोनों खेमे, अपनी-अपनी व्यवस्था के साथ “स्थायी” शांति और मेलजोल में विराजमान रहेंगे। वस्तुतः इसका अर्थ भव्य दावतों के लिए, जाज संगीत शुरू करने के लिए, ट्विस्ट नृत्य और अन्य ऐसी ही विकृतियों (perversities) को चालू करने के लिए समाजवादी देशों में साम्राज्यवादी ताकतों को अनुमति देना ही रह गया ताकि समाजवादी देशों में सांस्कृतिक जीवन को दूषित और उभरती पीढ़ियों को पतित किया जा सके। उन्हें घोर शराबी और रात्रि-क्लब गामी आदि जैसे व्यसनियों में परिणत किया जा सके। इसके अलावा, दूसरे देशों पर आक्रमण करके, अमेरिका द्वारा जारी अपराधपूर्ण कुकृत्यों के बारे में, सोवियत स्टैंड तो सिर्फ यह बताना रह गया कि ये घिनौनी मानवतावाद-विरोधी

कारगुजारियां हैं और ये युद्ध का कारण बन सकती हैं—बस सिर्फ इतना ही, लेकिन सोवियत संघ ऐसी कार्रवाइयों का सक्रियता से मुकाबला व प्रतिरोध नहीं करेगा, क्योंकि वह तो शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति का अनुसरण करता है! इसलिए, बिल्कुल सिद्धांतबाजों की तरह, सोवियत संघ को साम्राज्यवादियों की इन काली करतूतों का प्रतिरोध करने के लिए कहीं भी जाने की जहमियत नहीं उठानी है। इससे शीशे की तरह साफ हो जाता है कि शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की खुश्चेव की नीति का वस्तुतः अर्थ यह था कि उसी स्थिति में हाथ पर हाथ धरे बैठे रहना। समाजवादी देश उसी सनक के वशीभूत हो कर सदाचारी उपदेशक की भांति महज उपदेश-प्रवचन देते रहेंगे और अमेरिकी लुटेरों को दूसरे देशों पर वास्तविक रूप में आक्रमण करने की अनुमति देना जारी रखेंगे। क्या इसी का अर्थ शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति का अनुपालन है? इसे तो कभी भी सही नहीं माना जा सकता है। शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति का असली अभिप्राय तो यह है कि जिस तरह सोवियत संघ कहीं भी हस्तक्षेप नहीं करेगा, उसी तरह वह अमेरिका को भी कहीं भी हस्तक्षेप करने की इजाजत नहीं देगा। अमेरिका का युद्ध-पोतों के साथ जाने और मिस्र के साथ युद्ध छेड़ने के लिए इजराइल को उकसाने एवं शह देने का कोई हक नहीं है। खुले समुद्र में डाकाजनी करने का अमेरिका को भला क्या हक है? इसकी भी इजाजत नहीं दी जा सकती। एक समय था जब इस पर तवज्जो देने के लिए साम्राज्यवादियों को विवश नहीं किया जा सकता था, क्योंकि उस समय सोवियत संघ के पास वह शक्ति नहीं थी। लेकिन आज, समाजवादी खेमे के पास वह ताकत निश्चित रूप से मौजूद है। इसके बल पर, किसी भी देश के अंदरूनी मामलों में हस्तक्षेप न करने की इस नीति का दृढ़ता से पालन करने पर उन्हें मजबूर करना सोवियत संघ का फर्ज बनता था। शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति का वास्तविक तात्पर्य यही था।

विश्व साम्यवादी आन्दोलन में संकट का कारण

सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी का वर्तमान नेतृत्व शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति के इस तात्पर्य को अच्छी तरह समझ ही नहीं सका। वैचारिक चेतना के अपने निम्न स्तर की वजह से ही वे इसे गहराई से समझ नहीं सके। अब जरा यह जांच-पड़ताल करनी होगी कि किस तरह यह निम्न

स्तर हावी हुआ और कहां से इसका जन्म हुआ। आजकल, विज्ञान में किसी उच्च मानदंड का निहित अर्थ यह होता है कि वह एक सापेक्ष अर्थ में ही उच्च मानदंड है। किसी की समझने की क्षमता अत्यधिक है या किसी की चेतना का मान बहुत ऊंचे दर्जे का है—इसका अर्थ है कि एक स्थिति-विशेष में उसका चिंतन एवं ज्ञान बहुत ही ऊंचे स्टैंडर्ड का है। अर्थात् एक स्थिति-विशेष में, समकालीन समस्याओं की पृष्ठभूमि में वह व्यक्ति एक बहुत ही स्पष्ट समझदारी को प्रतिबिंबित करता है और उसकी विश्लेषणात्मक समीक्षा शक्ति बहुत ही ऊंचे स्तर की है। मगर उसकी चेतना का यह स्तर यदि वहीं स्थिर एवं जड़ होकर रह जाये, काल व परिस्थिति के परिवर्तन के साथ उत्पन्न होने वाली नित-नयी समस्याओं के साथ कदम मिलाते हुए अगर वह अपने इस स्तर को लगातार उन्नत करने में सफल न हो, तो आज का यह ऊंचा स्तर नयी-नयी समस्याओं के संबंध में बदली हुई परिस्थिति के परिप्रेक्ष्य में अवश्य ही निम्न हो जायेगा। बहुत से ऐसे लोग हैं, जिनका विज्ञान से कोई वास्ता ही नहीं है, जो विज्ञान के आविष्कारों एवं विकास-क्रम से वाकिफ ही नहीं हैं अथवा जो विज्ञान के घोर विरोधी हैं, और कुदरतन जब विज्ञान का कोई नया सिद्धांत प्रचलित सिद्धांत को पीछे छोड़ देता है, तब वे कहने लगते हैं कि विज्ञान सत्य पर आधारित नहीं है। वे कहते हैं कि यह कैसी बात है कि विज्ञान एक चीज को आज सही बताता है, और अगले ही रोज एक दूसरी चीज को सही बताने लगता है—इसलिए, विज्ञान में सत्य भला कैसे हो सकता है? लेकिन उन्हें यह भी मालूम नहीं है कि विज्ञान यह कभी नहीं कहता कि पूर्ववर्ती प्रस्थापना सारी की सारी गलत थी। विज्ञान में, जिस प्रकार यूक्लिड ज्यामिति सही है, उसी तरह ज्यामिति की आइन्स्टाइन द्वारा प्रतिपादित अवधारणा भी सही है। ज्यामिति की आइन्स्टाइनीय अवधारणा युक्लिडीय ज्यामिति के क्षेत्र में लागू नहीं होती है। प्रयोग-व्यवहार के उनके क्षेत्र अलग-अलग हैं। अपने क्षेत्र में न्यूटनीय यांत्रिकी अभी भी कार्यकारी व सही है, उस क्षेत्र में उसे गलत सिद्ध नहीं किया गया है। लेकिन ऐसे कुछ खास क्षेत्र हैं, जहां न्यूटनीय यांत्रिकी अपर्याप्त है। इसलिए उन क्षेत्रों को पूरा करने हेतु आइन्स्टाइनीय सिद्धांत का जन्म हुआ। अब न्यूटनीय यांत्रिकी व आइन्स्टाइनीय सिद्धांत दोनों ही सही हैं, सिर्फ उनके प्रयोग-व्यवहार के क्षेत्र ही अलग-अलग हैं। मगर, एक बदली हुई स्थिति में, बहुत-सी समस्याओं का सामना होने पर, संभवतः यह पाया जायेगा कि आइन्स्टाइन का सिद्धांत उन समस्याओं को हल करने में अपर्याप्त हो गया

है तो विज्ञान और ज्यादा विकास करेगा और नये-नये सिद्धांत अस्तित्व में आ जायेंगे। इसी तरीके से वैज्ञानिक सिद्धांत विकसित होते आ रहे हैं और विज्ञान का सभी क्षेत्रों में, सभी पक्षों में लगातार विकास हुआ है। यह सामाजिक विज्ञान के लिए भी उतना ही सही है और यह बात राजनीतिक ज्ञान, अर्थशास्त्र एवं राजनीतिक विज्ञान के सभी पहलुओं के विकास के लिए भी सही है।

क्योंकि सोवियत संघ के नेतृत्व के पास अनुभवों-अभिज्ञताओं का भंडार है, उसने क्रांति को विजयी बनाया है, क्योंकि चीन के नेतृत्व ने क्रांति को सफलीभूत किया है, क्योंकि माओ त्से-तुंग ने क्रांति की नयी रणनीति व रणकौशल का सृजन किया है; क्योंकि इतने क्षेत्रों में वे ऐसे विशाल अनुभवों से सम्पन्न हैं—इसलिए सापेक्ष अर्थ में भी चेतना का उनका स्तर कभी अपर्याप्त हो ही नहीं सकता है, या चेतना का उनका मौजूदा ऊंचा स्तर हमेशा वैसा ही बना रहेगा—ऐसी अवधारणा त्रुटिपूर्ण है। बहुत-से कम्युनिस्टों की ऐसी ही गलत अवधारणाएं हैं और इससे अंधता पैदा होती है। मगर यह बात अवश्य ही हमेशा याद रखें कि कम्युनिज्म का अंधता से कोई नाता नहीं है। कम-से-कम हमने जिस तरीके से कम्युनिज्म को समझा है; हमारी पार्टी ने जिस तरह इसे समझा है—हमारी राय तो यही है कि कम्युनिज्म और अंधता का कोई नाता नहीं है। हम मानते हैं कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, जिस पर कम्युनिज्म का समूचा सिद्धांत टिका हुआ है, एक ऐसा विज्ञान है जो निरंतर विकसित व उन्नत होता रहेगा और जीवन, समाज, ज्ञान-विज्ञान जगत की नित-नयी समस्याओं पर लगातार रोशनी डालता रहेगा। इसलिए, कम्युनिस्ट पुराने सत्यों को तो पुख्ता तौर पर समझेंगे ही, नये और सत्यों को भी गहराई से समझने की कोशिश करेंगे और इस प्रकार मार्क्सवाद को लगातार विकसित व उन्नत करते जायेंगे। स्तालिन काल में सोवियत संघ में व्यापक एवं जबदरस्त आर्थिक गतिविधियों के बावजूद और स्तालिन के नेतृत्व में एक देश से दूसरे देश तक कम्युनिस्ट आन्दोलन की संगठनात्मक शक्ति के जबदरस्त विकास के बावजूद यह भी सच है कि वैचारिक आन्दोलन के इस क्षेत्र अर्थात् दर्शन के इस अनुशीलन पर या ज्ञान-विज्ञान जगत के इस सैद्धांतिक पक्ष पर पर्याप्त बल एवं महत्व नहीं दिया गया। फलस्वरूप, आर्थिक व प्रौद्योगिकीय विज्ञानों की महान प्रगति के साथ कदम मिलाते हुए वैचारिक चेतना के स्तर को लगातार उन्नत-विकसित करने में असफलता के कारण, इन दोनों के बीच एक भारी खाई पैदा हो गयी।

परिणामस्वरूप वैचारिक चेतना का स्तर निरंतर तेजी से गिरता जा रहा है और चेतना का स्तर अगर इसी तरह गिरता रहा तो भविष्य में यह अंततः और भी अधिक गहरे संकट को जन्म देगा—अर्थात् यह नेतृत्व जिन जटिल समस्याओं से दो-चार है, इस निम्न स्तर के साथ उन समस्याओं पर प्रकाश डालने, उस संकट से बाहर निकलने और उन समस्याओं से निबटने में समर्थ नहीं होगा। नतीजतन, वे साम्यवादी आन्दोलन में नाना प्रकार की कमियों-बुराइयों एवं खामियों की भरमार कर देंगे।

इस बिन्दु का जरा और ज्यादा स्पष्टीकरण करना जरूरी है। जो बात मैं अच्छी तरह समझा देना चाहता हूँ वह यह है कि पूरे भूमंडल में विभिन्न देशों के अंदर कम्युनिस्ट विचारधारा के आधार पर क्रांति को संगठित करने के जो प्रयास जारी हैं, वे इस प्रारंभिक अवस्था में मुक्ति संग्राम के सहायक राष्ट्रवाद के विरोधी तो होते ही नहीं हैं, बल्कि यह राष्ट्रवाद से जनित देश-प्रेम भी अपने क्रम में क्रांतिकारी साम्यवादी आन्दोलन के विरुद्ध भी नहीं है, बल्कि उल्टे, वह राष्ट्रवाद इसकी संगति में होता है और उससे मेल खाता है। मगर बहुत-से देशों में क्रांति के बाद, समाजवाद की स्थापना के बाद समाजवादी देशों के अंदर एकता के एक असली अन्तर्राष्ट्रीय बोध को तैयार करना जरूरी है। यह एकता या समझदारी पूंजीवादी देशों के बीच अर्थात् अमेरिका व इंग्लैंड के बीच या इंग्लैंड व भारत के बीच समझदारी जैसी कतई नहीं होती है या यह समझदारी या एकता भारत व अमेरिका के पूँजीपतियों के बीच समझदारी जैसी भी नहीं होती है। यह तो सर्वथा भिन्न प्रकृति की समझदारी होती है। यह कम्युनिस्टों के अंदर किसी भी राष्ट्रीय मिथ्या अभिमान से मुक्त एकता है, यह तो अन्तर्राष्ट्रीय सर्वहारा क्रांति के स्वार्थ में, हर तरह के शोषण से मनुष्य जाति की मुक्ति के स्वार्थ में, समाजवाद के स्वार्थ में, राष्ट्रीय अनुचित घमंड से पूरी तरह मुक्त समाजवादी देशों की एकता के लिए एक ईमानदार एवं वास्तविक प्रयास है। जिस राष्ट्रीय मानसिकता ने स्वतंत्रता संग्राम के दौरान या क्रांति के वक्त कोई नुकसान नहीं पहुंचाया था, अगर क्रांतिकारी अवधि के बाद उसे संघर्ष के जरिये खत्म न कर दिया जाये और सर्वहारा अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के साथ उसकी संगति न बैठा दी जाये, तो वह एक दिन साम्यवादी देशों के बीच लड़ाई-झगड़े भड़का सकती है। जब टीटो और सोवियत नेतृत्व के बीच विवाद उभर कर सामने आया, तो मैंने आगाह किया था कि जिस तरीके से कम्युनिस्ट हरकत कर रहे हैं, राष्ट्रीय देशों को केन्द्रित करके जिस तरह

राष्ट्रीय मानमर्दन की हीन भावना एक मिलावट या खोट के रूप में उनकी मानसिकता के अंदर अभी भी घुली-मिली है; साम्यवादी आन्दोलन के अंदर जिस यांत्रिक चिंतन का प्रभाव अभी भी विद्यमान है तथा कम्युनिस्ट देशों के बीच आपसी संबंध में जो दाम्भिक रवैया अभी भी व्यापक रूप में प्रचलित है—यदि ये सब जारी रहे, तो भले ही यह अकल्पनीय भी प्रतीत हो सकता है, पर मुझे कोई आश्चर्य नहीं होगा यदि पूरे भूमंडल में एक देश के बाद दूसरे देश में क्रांति के माध्यम से समाजवाद की स्थापना के बाद भी साम्यवादी देश एक-दूसरे के साथ लड़ते हुए एवं टकराते हुए पाये जायें।

मैंने तो यहां तक सोचा कि अगर अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन से इन कमियों-खामियों का सफाया नहीं कर दिया जा सका, तो पूंजीवाद-साम्राज्यवाद को समाप्त करने के बाद भी, अभी तक मौजूद समाजवादी राज्यों के अस्तित्व का राष्ट्रीय स्वरूप उन्हें एक-साथ एकताबद्ध करने में, मनुष्य जाति के एक ही एकीकृत अन्तर्राष्ट्रीय समाज की स्थापना करने में, ऐसा समाज बनाने में जहांराष्ट्रों की अलग पहचान के लिए जरूरत और आग्रह लुप्त हो जायेंगे—एक गम्भीर समस्या उठ खड़ी होगी। मानवतावादियों ने भी एक ऐसी एकीकृत सार्वजनीन समाज-व्यवस्था की कल्पना की थी, रवीन्द्रनाथ टैगोर, बर्टेंड रसल को भी एक ऐसा विचार सूझा था। उन्होंने अपने ही ढंग से एक ऐसे समाज का सपना संजोया था। यद्यपि वह कल्पनालोक का दिवास्वप्न (युटोपिया) था मगर कम्युनिस्टों ने तो एक ऐसे समाज की कल्पना वैज्ञानिक व यथार्थवादी ढंग से की है। मेरी राय में, जैसाकि जिन समस्याओं पर मैंने पहले चर्चा की है, यदि साम्यवादी आन्दोलन में वे समस्याएं बरकरार रहें तो वे मनुष्य-जाति की ऐसी एकीकृत बिरादरी को विकसित करने की प्रक्रिया में गंभीर रुकावट खड़ी कर देंगी। मार्क्सवाद-लेनिनवाद की सीख है कि युद्ध व लड़ाई-झगड़े तो साम्राज्यवादी-पूंजीवादी अर्थव्यवस्था व राजनीति में अंतर्निहित द्वन्द्वों के वस्तुगत अंजाम हैं। मगर अब मैं पाता हूँ कि राष्ट्रीय सवाल, राष्ट्रीय मानसिकता और यांत्रिक चिंतन प्रक्रिया को केन्द्रित करके कम्युनिस्टों के अंदर जो द्वन्द्व जारी हैं, यदि उनका उचित समय के अंदर उन्मूलन न किया गया, तो साम्राज्यवाद-पूंजीवाद का सफाया कर दिया जाने के बाद भी वे हमारे अंदर नयी समस्याएं पैदा कर देंगे। ये सब बातें कम्युनिस्टों के अंदर चेतना के अपर्याप्त स्तर की वजह से ही मौजूद हैं।

यहां, अब हमारी पार्टी के कार्यकर्ताओं के लिए एक खास बात याद

रखनी निहायत जरूरी है। लोगों को यह समझाना ही उनका एक अनिवार्य फर्ज है कि जो सत्य है, उसे बुलंद आवाज में अवश्य ही कहा जाये। जहां चीनी नेतृत्व ने सत्य को बुलंद किया है, सही रूप में कहा है, इसको उन्हें साहसपूर्वक अवश्य दिखाना चाहिए। उन्हें इस बात की फिक्र करने की जरूरत नहीं है कि बुर्जुआ वर्ग क्या कहेगा, क्योंकि सत्य को बुलंद करने हेतु हर किसी को उसकी कीमत तो चुकानी ही पड़ती है, कुछ कुर्बानी तो करनी ही पड़ती है—ऐसा हमेशा होता है और अब भी वैसा ही होगा। यह कार्यों का काम नहीं है। इसके साथ-साथ, हमें यह भी याद रखना होगा कि क्योंकि चीन ऐसा कह रहा है, इसीलिए यह सच ही होगा—इस मनोभाव एवं दृष्टिकोण को भी त्यागना जरूरी है। यह सोचना भी सही नहीं है कि माओ त्से-तुंग चूंकि एक अक्लमंद व्यक्ति हैं, इसीलिए वे जो कुछ भी कहते हैं, वही सही है, उनका हरेक विश्लेषण त्रुटिरहित है। नहीं, हमें उनके विश्लेषणों की भी सूक्ष्मरूप से जांच-परख अवश्य करनी चाहिए। मिसाल के तौर पर, यदि वे कहते हैं कि भारत में क्रांति का स्तर साम्राज्यवाद-विरोधी एवं सामंतवाद-विरोधी है और यह कि भारत ने अभी तक आजादी हासिल नहीं की है—क्या हम इस बात को भोलेपन से मान लें और उसी को तोते की तरह रटते रहें? मेरी राय में, यह कतई नहीं होना चाहिए। यदि एक ऐसा रवैया एवं दृष्टिकोण जारी रहा तो भारत में कम्युनिस्ट आन्दोलन अपनी जड़ें जमा ही नहीं पायेगा—उल्टे, वह कमजोर व निदाल रहेगा। भारतीय कम्युनिस्टों के मस्तिष्क दूसरों की नकल करने के लिए नहीं हैं, बल्कि अपनी खुद की बुद्धि के बल पर क्रिया करने के लिए हैं। इसका अर्थ यह है कि राष्ट्रीय मिथ्या अभिमान भी न हो, मगर हर किसी की स्वाधीन चेतना हो, नया जोश हो और स्वाधीन जांच-परख करने की क्षमता जरूर हो। देश के लोगों को अपने पक्ष में आकर्षित करने, देश की मिट्टी में गहरी जड़ें जमाने हेतु साम्यवादी आन्दोलन की सफलता का राज इसी तथ्य में निहित है। दूसरों की नकल करके राष्ट्रीय मिट्टी में क्रांतिकारी विचाराधारा की गहरी जड़ें जमाने में कोई भी सक्षम नहीं हुआ है।

उन्हें (पार्टी कार्यकर्ताओं को) अवश्य ही याद रखना चाहिए कि सोवियत संघ और चीन के बीच मौजूदा विवाद के ये बुनियादी सैद्धांतिक पहलू अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। सोवियत संघ ने शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति के बारे में कुछ ऐसी अवास्तविक एवं गैर-यथार्थवादी अवधारणाएं पेश की हैं; वह न्यूक्लियर ब्लैकमेलिंग के बारे में गैर-राजनीतिक दृष्टिकोण न

सही पर, राजनीतिक रूप से गलत ऐसे दृष्टिकोण का अनुसरण कर रहा है जो राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्रामों के लिए उनके निष्क्रिय एवं गैर-कारगर समर्थन के लिए जिम्मेदार है। नतीजतन, जिस तरह का समर्थन व सहायता उन संग्रामों की निर्णायक विजय के लिए अनिवार्य है वह उन्हें उपलब्ध ही नहीं हो पा रही है। उदाहरणार्थ, जब वियतनाम की रक्षा करना उनकी जिम्मेदारी बनती है पर वे वियतनाम को सिर्फ उसी सीमा तक सहायता प्रदान कर रहे हैं, जो एक राज्य किसी अन्य मुसीबतजदा एवं आपदा-ग्रस्त राज्य को आमतौर पर प्रदान करता है। जैसा-कि मैंने पहले ही दिखाया है कि यह तो उनकी एक घोषित प्रतिज्ञा थी कि एक समाजवादी देश पर किसी भी हमले को वे खुद सोवियत संघ पर हमले के रूप में ही मानेंगे, मगर आज जब अमेरिका हर रोज वियतनाम पर हवाई हमलों से बम-बारी जारी रखे हुए है और उद्योगों, फैक्ट्रियों, सड़कों, बांधों, पुलों आदि पर यानी समूची अर्थव्यवस्था पर हमले कर रहा है—और वस्तुतः देश के तमाम लोगों के खिलाफ एक चौतरफा हमला तेज करता जा रहा है, तब वियतनाम की मदद करने के नाम पर, सोवियत संघ सिर्फ प्रतिरक्षा के लिए ही कुछ हथियार भेज रहा है। अर्थात् सोवियत सहायता की प्रकृति ऐसी है कि यदि अमेरिकी हवाई जहाज धावा बोलने आये तो सिर्फ उन्हें गोली दाग कर नीचे गिराया जा सकता है और इससे अधिक नहीं। मैं यह नहीं कहता कि ऐसे हथियार जरूरी नहीं हैं। यह भी सच है कि यदि वियतनाम को ऐसे हथियार भी नहीं मिलते तो वह और भी बड़ी कठिनाई में फंस जाता। वियतनाम इसके लिए सोवियत संघ का अहसानमंद हो सकता है, क्योंकि सोवियत संघ से उसे जो भी सहायता आ रही है, वह उस के लिए मददगार है। मगर सोवियत संघ असलियत में क्या कर रहा है? वह जो मदद दे रहा है उस का अर्थ यह निकलता है कि यदि शत्रु के हवाई जहाज आये, तो उन्हें गोली मार कर नीचे गिराया जा सके। फिर इस सहायता की सीमा क्या है? इसे उपकरणों की वह जबदरस्त सहायता तो कहा ही नहीं जा सकता जो आकाश से अमेरिकी वायुसेना को ही ध्वस्त कर दे।

सोवियत नीति तो परोक्ष रूप में अमेरिकी युद्ध अर्थव्यवस्था की ही मदद कर रही है

अब, यदि कोई सोवियत संघ से पूछे कि मान लो किसी एक घटना-विशेष में, भूमध्य सागर में छोटे बड़े से अथवा तुर्की या इजराइल में

अमेरिकी अड्डे से अमेरिकी हवाई जहाज सोवियत संघ के अंदर तक, मान लो मास्को या लेनिनग्राद पर उड़ान भरते और लगातार बमबारी द्वारा पुलों व बांधों को ध्वस्त कर डालते, तो उसकी अपनी प्रतिक्रिया क्या होती? क्या ऐसी स्थिति में भी वह सिर्फ हाथ पर हाथ धरे हुए ही बैठे रहता? और लड़ाकू विमानों पर महज गोली भर चलाता? इस आशंका से कि विश्वयुद्ध ही न भड़क उठे क्या वह उस समय अमेरिका से इतना ही कहता : 'देखो, यह मत करो, यह तो शांति को भंग करना है, याद रखो, ये तुम्हीं हो जो हमला कर रहे हो'? क्या वह इस तरह निरंतर हमले जारी रखने की अमेरिका को इजाजत देता? यदि नहीं तो वह क्या करता? यह आसानी से अंदाजा लगाया जा सकता है कि सोवियत संघ अवश्य ही करारी जवाबी कार्रवाई करता, वह उस अड्डे को ही उड़ा देता जिससे अमेरिका हमले संचालित कर रहा है, अर्थात्, वह अमेरिकी हमले की जड़ों पर ही कुठाराघात करता। यह साफ और सुबोध है। मगर सोवियत संघ यही रवैया वियतनाम के मामले में क्यों नहीं अपना रहा? अगर उसने वह रवैया नहीं अपनाया है तो सोवियत संघ अपनी खुद की सुरक्षा और उत्तर वियतनाम की सुरक्षा के प्रश्न को एक जैसा नहीं मानता है। उनकी नजर में, दोनों के बीच अंतर है। यदि मामला यह हो, तो क्या सर्वहारा अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की बात उनको तनिक भी शोभा देती है? तब सर्वहारा अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की उनकी बड़ी-बड़ी बातों की जरूरत ही क्या थी? तब सोवियत वाले दूसरे समाजवादी देशों को यह सलाह कैसे दे सकते हैं कि उन्हें अपनी खुद की न्यूक्लियर शक्ति विकसित करने की इसीलिए जरूरत नहीं है कि जब और जहां जरूरी होगा, सोवियत संघ साम्राज्यवादी हमलों से उनकी रक्षा करेगा? क्या आज वह रक्षा प्रदान कर रहा है? जो मदद वह वियतनाम को प्रदान कर रहा है—क्या उसे वास्तविक रक्षा के रूप में किसी भी तरह माना जा सकता है?

यहां भी, सोवियत संघ अमेरिकी राजनीति के एक अन्य पहलू को समझने में विफल रहा है। वे सोच रहे हैं कि वियतनाम की रक्षा के लिए वे जो सहायता दे रहे हैं वह वास्तविक मदद है। इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि इस मदद ने एक दृष्टि से वियतनाम को अपनी प्रतिरक्षा करने में कुछ न कुछ तो सक्षम बना दिया है, मगर इसका एक दूसरा पहलू भी है। यह भी एक ठोस वास्तविकता है। भला, वह क्या है? अपनी अर्थव्यवस्था की जरूरतों के लिए ही, अमेरिका युद्ध को जारी रखना चाहता है, मगर वह किसी विरोधी के बगैर तो लड़ना जारी नहीं रख सकता।

इसलिए यह जरूरी है कि जिस देश के खिलाफ अमेरिका लड़े, उसे भी तो युद्ध की निरंतरता के लिए किसी स्रोत से कुछ शक्ति मिलनी चाहिए। सोवियत संघ ही वियतनाम को ऐसी शक्ति प्रदान कर रहा है और परिणामस्वरूप आयुधों के अमेरिका के जखीरे की निकासी करने में वह अमेरिका की वस्तुगत रूप से मदद कर रहा है। क्योंकि सोवियत नेता यह भी समझने में विफल हुए कि अपनी अर्थव्यवस्था के स्वार्थ में ही अमेरिका के लिए युद्ध के माध्यम से अपने संचित हथियारों के अंबार को कम करना और पुराने हथियार निकालना और तबाह करना जरूरी था। इसका कारण यह है कि जब तक हथियारों और लड़ाकू विमानों को तबाह न किया जाये, उद्योगों के सैन्यीकरण के माध्यम से अपनी अर्थव्यवस्था में वे जिस तेजी व उछाल को जारी रखने की तिकड़मबाजी कर रहे हैं, वह उछाल लम्बे अरसे तक कायम नहीं रहेगा। उनके आयुध व जंग के साजो-सामान की फैक्ट्रियां जिन अस्त्र-शस्त्रों का उत्पादन कर रही हैं, उनका अंबार लग जायेगा। लेकिन सोवियत संघ सोचता है कि वियतनाम को जो युद्ध-सामग्रियां एवं उपकरण वह प्रदान कर रहा है, उनसे जब अमेरिकी हवाई जहाजों को ध्वस्त किया जा रहा है तो अमेरिका को एक समुचित करारा जवाब मिल रहा है। मगर यह अमेरिका के लिए करारा जवाब कतई नहीं है; उल्टे, एक मायने में, वह सामग्री तो उसकी मदद करती जा रही है। अतः, जब अमेरिका वियतनाम में जबरदस्ती घुस बैठा है और वहां एक युद्ध का तांडव मचा रहा है तब जो सोचते हैं कि सोवियत संघ जिन प्रतिरक्षात्मक हथियारों की सप्लाई वियतनाम को कर रहा है, उनसे अमेरिका एक गंभीर कठिनाई में फंस गया है—वे एक भारी गलती कर रहे हैं।

अमेरिका को वहां जो नुकसान हो रहा है, वह तो राजनीतिक और नैतिक है। युद्ध लम्बा खिंचने के कारण, वियतनाम युद्ध में असंख्य अमेरिकी सैनिक मर रहे हैं। माताओं के बेटे, पत्नियों के पति, बहनों के भाई अपने प्राण गंवा चुके हैं। इसका असर अमेरिकी जनता पर पड़ा है। आखिर यह युद्ध किस चीज के लिए है? इस सवाल पर उन लोगों ने सोचना शुरू कर दिया है। वहां वे आखिर किसकी खातिर लड़ रहे हैं? ऐसे सवाल उनके दिलो-दिमाग को उत्तेजित एवं उद्वेलित कर रहे हैं। सच क्या वाकई वह है जिसका पेंटागन के आका उन्हें यकीन दिलाने की कोशिश कर रहे हैं? या सच कुछ और है? इसकी वजह यह है कि वहां लोगों को पूरी सच्चाई जानने की इजाजत नहीं है, वहां एक ऐसी जहनियत विकसित हो

चुकी है कि सरकार की तरफ से जो भी सूचना आये उसे ही सत्य के रूप में स्वीकार कर लो। अगर बात यह है, तो इसका फैसला कैसे किया जाये कि जो सरकार कहती है—वह सच है या नहीं? खासकर जहां खुद सरकार ही ठगों, मक्कारों, मुजरिमों का गिरोह हो, तो मामला कुदरतन अलग हो जाता है। अतः लोगों को हमेशा खुद ही अपने लिए जांच-पड़ताल करनी चाहिए। इसके अलावा, यदि वह सच है जो सरकार कह रही है, तो लोगों को अपने विचार और अपनी राय एवं मतामत का इजहार करने की अनुमति देने पर उन्हें आपत्ति क्यों है? क्या सच है और क्या नहीं—इसका निर्णय करने का अधिकार लोगों को दिया जाए। मगर इसकी तो इजाजत वे देंगे ही नहीं। उनका रवैया ऐसा है कि जो भी वे कहें, वही सच है और उसे उसी रूप में मानना पड़ेगा। और, सरकारी कथन एवं विवरण से भिन्न कुछ बात कहना ईश्वर निन्दा या देशद्रोह समझा जायेगा! इस प्रकार, अमेरिकी सरकार ने सच्चाई जानने की लोगों को इजाजत ही नहीं दी है। अमेरिकी लोग भी उस समय तक सर्वथा आनंदपूर्वक अपने विलासितापूर्ण जीवन और सांसारिक ऐशो-आराम से संतुष्ट एवं मस्त थे। वे अभी तक इन सवालों पर इतने ज्यादा चिंतित व परेशान नहीं थे। पारंपरिक कम्युनिस्ट-विरोधी पूर्वाग्रह से ही उन्होंने हमेशा सोचा है कि कम्युनिस्ट बुरे लोग होते हैं। इसकी वजह यह है कि उन्हें कम्युनिस्टों के बारे में ऐसी ही बेतुकी व मनगढ़ंत किस्से-कहानियां परोसी गयी हैं। इस किस्म के प्रॉपगैंडे के आदी होने के कारण, उन्होंने यह धारणा बना ली कि एक कम्युनिस्ट व एक गैंडे या गोरिल्ले जैसे जंगली जानवर के बीच कोई खास फर्क नहीं है। कम्युनिस्टों के बारे में इस किस्म की तमाम विकृत धारणाएं उन्हें इरादतन परोसी गयी हैं। लेकिन उनमें कुछ लोगों ने, जो विभिन्न देशों की यात्रा कर चुके हैं, और वहां के लोगों के संपर्क में आये हैं, एवं जिन्हें सिक्के के दूसरे पहलू का पता चला है, इस सत्य को धीरे-धीरे पुख्ता तौर पर समझना शुरू कर दिया है। बर्ट्रेड रसल व ज्यां पॉल सार्त्रे जैसी महान हस्तियां भी जिनकी अमेरिकी लोग उन हस्तियों की अक्लमंदी व दूरदर्शिता की वजह से अत्यंत आदर व कद्र करते हैं, अमेरिका के खिलाफ अपने विचार व उद्गार प्रकट कर रहे हैं। अमेरिकी लोगों पर इन सब बातों का असर पड़ रहा है। इसके अलावा, वे खुद भी अपनी आंखों के सामने देखते हैं कि यह युद्ध जान-माल के भारी नुकसान का कारण बन रहा है, वे अपनी संतानें गंवा रहे हैं। युद्ध से लौटने वाले लोगों के तो बिल्कुल भिन्न अनुभव और प्रतिक्रियाएं हैं। वे तो युद्ध

के मोर्चे पर इस निष्कपट विश्वास के साथ जा रहे हैं कि वे न्याय, स्वतंत्रता व लोकतंत्र के लिए संग्राम कर रहे हैं। लेकिन वहां उन्हें मामला बिल्कुल भिन्न मिलता है। वे अपनी आंखों से देख रहे हैं कि ये तो वियतनामी लोग ही हैं जो अपने देश की स्वतंत्रता के लिए अमेरिका के अकारण आक्रमण के खिलाफ लड़ रहे हैं। वहां आम लोगों में से एक भी तो अमेरिका के पक्ष में नहीं है। अतः वियतनाम मोर्चे पर जाने वाले अमेरिकी लोगों में से बहुत सारे लोग युद्ध के खिलाफ होते जा रहे हैं और जिन लोगों का मोह-भंग हो गया है एवं जिनकी आंखें खुल गयी हैं, जब वे लोग वापस आ रहे हैं, राजसत्ता उनकी आवाज को बंद कर रही है, उन्हें नौकरी से बर्खास्त कर रही है ताकि वे सशस्त्र बलों के अंदर असंतोष व आक्रोश को न फैला सकें और उनके मनोबल को न तोड़ डालें। इन सब बातों के फलस्वरूप अमेरिकी लोग धीरे-धीरे सत्य समझने में समर्थ होते जा रहे हैं।

इस विषय में सवाल उन्हें उद्बलित कर रहे हैं कि वियतनाम में वे किस की स्वतंत्रता के लिए लड़ रहे हैं? सैकड़ों हजार लोग मर गये—लेकिन किस चीज के लिए उन्होंने अपने प्राण न्योछावर किए? वहां क्या वे कोई (Ky) सरकार जैसे पिछलग्गुओं के लिए लड़ रहे हैं या पेंटागन के स्वार्थ की सिद्धि के लिए वहां संग्राम में जुटे हुए हैं? अथवा वाल स्ट्रीट के बड़े आकाओं और युद्ध सामग्रियों को बेच कर मुनाफा बटोरने वाले युद्ध-सौदागरों, युद्ध अपराधियों के स्वार्थ की रक्षा करने के लिए ही क्या वे लड़ रहे हैं? यदि ऐसा है तो उसमें अमेरिकी जनसाधारण का स्वार्थ ही क्या है? इस प्रकार अमेरिकी लोगों के अंदर एक नयी जागृति पैदा हो गयी है।

वियतनाम के संग्राम से अमेरिकी लोग भी प्रेरित

युद्ध के दौरान उत्तर वियतनाम पर अपनी रिपोर्ट पेश करते हुए, एक अमेरिकी पत्रकार ने उस सैगोन शहर का विवरण भी दिया है, जहां अमेरिकी डॉलरों की बाढ़ ला दी गयी है। रिपोर्टों से यह पता चलता है कि शांति प्रस्ताव के प्रति वियतनामियों के रवैये का मूल्यांकन करने और वहां अलग-अलग शासनों के अंतर्गत दोनों क्षेत्रों की एक तुलनात्मक रिपोर्ट भी भेजने के लिए उसे सरकारी तौर पर भेजा गया था। यह समाचार 'स्टेट्समैन' अखबार में प्रकाशित हुआ। अपने अध्ययन एवं जांच-पड़ताल में, उस पत्रकार ने दोनों भागों की सामाजिक स्थितियों और नैतिक मानदंडों की तुलनात्मक तस्वीर को तथा उस भाग के शासन की बानगी व चरित्र को भी

पेश किया है जिसकी प्रतिरक्षा में अमेरिकी सैन्य दलों को वहां प्रकट रूप से तैनात किया गया है। इसी के साथ-साथ उसने उत्तर वियतनाम का जो विवरण भी पेश किया है, वह तो चकित कर देने वाला है! वह रिपोर्ट भेजता है कि घमासान लड़ाई और जबरदस्त हवाई बमबारी के धावों व हमलों के बीच भी, उत्तर वियतनाम में लोग सूर्योदय से पहले ही घरों से बाहर आ रहे हैं एवं सड़कें साफ करने हेतु तबाही के मलबों एवं कूड़े-कर्कट को हटा रहे हैं। लेकिन जहां अमेरिका करोड़ों डॉलर पानी की तरह बहा रहा है, वहां सैगोन में, कलकत्ते की गलियों में जो कूड़ा-कर्कट व गंदगी के ढेर लगे आप पाते हैं, उससे भी बदतर हालत है। वहां लोग रोज दिन चढ़ने से पहले अपने घरों से बाहर आने का नाम नहीं लेते हैं। अक्सर गली-कूचों में भी झाड़ू नहीं लगाया जाता है एवं उनकी सफाई तक नहीं की जाती है। इसके साथ-साथ, उस पत्रकार ने वहां के दोनों हिस्सों में अपने-अपने नैतिक मानदंडों की भी तस्वीर पेश की है। उसने इस चीज का विवरण दिया है कि उत्तर वियतनाम में बच्चे कैसा आचरण करते हैं एवं कैसी भूमिका निभाते हैं; वहां लोगों का नैतिक मानदंड और नागरिक जीवन कितना ज्यादा उन्नत है। उस विवरण में उसने दिखाया है कि ऐसे विनाशकारी युद्ध के बीच भी, महिलाएं हर कार्य कर रही हैं। वे भूमितलों पर पहरा दे रही हैं और फिर बमबारियों के दौरान भूमिगत आश्रय स्थल में आ छिपती हैं। अन्य तमाम दैनिक काम-काजों में जुटी रहती हैं और इस सबके बीच, वे गाना गा रही हैं, रंगशालाओं में नाटक संगीत के शो आयोजित कर रही हैं तथा मनोरंजन की नाना गतिविधियों के माध्यम से समाज को उत्साह, उमंग और ओजस्विता से सजीव बना रही हैं। यह तो जीने का सर्वथा नया अंदाज है। उनके मन में डर व दहशत, किसी किस्म की बदकारी व विकृति के लिए कोई स्थान ही नहीं है; उनके दिलो-दिमाग में तो सबसे बड़ी चिंता देश के लिए ही है। वे यह कहां से प्राप्त करते हैं? जीवन के प्रति यह नया दृष्टिकोण, यह चेतना, नीति-नैतिकता का यह स्तर वे कैसे अर्जित कर सके? यह इसी वजह से है कि वे कम्युनिज्म की महान विचारधारा और चेतना के रंग में रंगे हैं। सिर्फ इसी के परिणामस्वरूप इस तरह अपने जीवन को संचालित करना उनके लिए संभव हुआ है।

इसलिए, दूसरे विश्व युद्धोत्तर काल में अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति ऐसी रही है कि समाजवादी ताकतों ने जबरदस्त प्रगति की है। सिर्फ एक ही देश से शुरू करके, अब विश्व भर में कम्युनिस्ट एक महान शक्ति बन गये हैं। विभिन्न

देशों में क्रांतिकारी आन्दोलन रूप-आकार ले रहे हैं। अमेरिका के भयानक हमलों और उसके खिलाफ सोवियत संघ के किसी गैर-कारगर प्रतिरोध के बावजूद, लैटिन अमेरिकी देश अपने स्वतंत्रता संग्राम दिलेरी के साथ जारी रखे हुए हैं। वियतनाम के शांतिपसंद लोग बेशुमार कठिनाइयों के बीच लड़ रहे हैं और एक देश से दूसरे देश में मुक्ति के लिए जन-संग्राम अधिकाधिक शक्ति अर्जित करते जा रहे हैं। फलस्वरूप, कम्युनिस्ट आन्दोलन विश्व-भर में पूंजीपतियों व साम्राज्यवादियों के लिए गंभीर चुनौती पेश कर रहा है। कम्युनिस्ट नाम ही पूंजीपतियों के अंदर दहशत पैदा कर रहा है। कम्युनिस्टों की अपराजेय अग्रगति को और आगे रोका नहीं जा सकता है—साम्राज्यवादी इस वास्तविकता से भयभीत व आतंकित हो जाते हैं। मगर यह भी विचित्र बात है कि साम्राज्यवाद के दुर्बल हो जाने व मुसीबत में फंस कर कोने में धकेले जाने और समाजवादी खेमे और विश्व क्रांतिकारी आन्दोलन द्वारा इतनी ज्यादा शक्ति अर्जित करने के बावजूद, साम्राज्यवाद अभी भी दाम्भिक रवैया और हेकड़ी व अकड़ दिखा सकता है कि वह आज भी दूसरे देशों पर अकारण आक्रमण कर रहा है। इसी वजह से मैंने यह टिप्पणी की कि जब हम एक अर्थ में अंतिम विजय की चौखट से 10 गज की दूरी पर पहुंच चुके थे, तभी हम एक भूलभुलैया में खो गये। विभिन्न गलत अभ्यासों, सैद्धांतिक गड़बड़ियों, भ्रातियों और यहां तक कि चालबाजियों व मक्कारियों की वजह से, हम उस मुकाम से मीलों दूर हट गये हैं। कम्युनिस्ट आन्दोलन में वैचारिक संघर्षों की कमजोरी और चेतना के निम्न मान के कारण ही यह हो सका।

वैचारिक-सांस्कृतिक मान उन्नत करें

जो लोग केवल रोजमर्रा के संघर्षों के बारे में ही सोचते हैं और जन-लाइन प्रदान करने, कुछ खास नारे बुलंद करने तथा किसी भी तरीके से पार्टी-शक्ति को बढ़ाने में ही दिलचस्पी रखते हैं—मैं उनसे एक अत्यधिक महत्वपूर्ण बात पर गंभीरता से सोच-विचार करने का अनुरोध करता हूँ। हमारे देश की तथाकथित कम्युनिस्ट पार्टियों में ऐसा मनोभाव एवं रवैया अत्यधिक प्रचलित है और अगर हम भी सतर्क व चौकस न रहें तो हम भी किसी वक्त इस मनोभाव के शिकार बन सकते हैं। हमारे देश में तथाकथित कम्युनिस्ट पार्टियां जब कभी भी किसी भी तरह पार्टी-शक्ति में वृद्धि कर पाती हैं, तो वे ताकत के नशे में इतनी चूर हो जाती हैं कि होश

खो बैठती हैं। उनके कार्यकर्ता वैचारिक रूप से कहां तक विकसित-उन्नत हो रहे हैं; उनके अन्दर सैद्धांतिक चेतना बढ़ रही है या नहीं; उनकी पांतों में भारी संख्या में शामिल होने वाले कार्यकर्ता सही कम्युनिस्ट चेतना से अनुप्राणित हैं या नहीं; उच्चतर कम्युनिस्ट नीति-नैतिकता और वैचारिक समर्पण भावना का आधार उनके अंदर मौजूद है या नहीं; विज्ञान, दर्शन आदि ज्ञान की विभिन्न शाखाओं पर उनका अनिवार्य उन्नत चिंतन व अवधारणा या दखल है या नहीं, या महज कुछ, जज्बाती नारेबाजी करने वाले लोग ही उनकी पांतों को लंबी कर रहे हैं—इन अत्यधिक महत्वपूर्ण पहलुओं की तरफ वे कोई ध्यान ही नहीं देते। कोई भी इस किस्म के “कम्युनिस्ट” कार्यकर्ताओं को अन्य स्थानीय आवागमनों से वस्तुतः अलग करके पहचान ही नहीं सकता है जब तक कि उसे यह पता न चले कि ये तो अमुक पार्टी के कैडर हैं। ये वे ही कार्यकर्ता हैं जो इन पार्टियों में भीड़ बढ़ाने के लिए आते हैं और सदस्यता के आंकड़ों को बढ़ाते हैं जिनके बारे में इन दलों के नेता इतनी शेखी बघारते हैं। इस तरीके से पार्टी की पांतों में भीड़ लगाने से संख्या की दृष्टि से तो उनकी शक्ति चाहे बढ़ भी जाए, जो संसदीय चुनावी राजनीति में शायद मदद कर सके, कुछ को नेता बनाने या प्रॉपगैंडा कार्य कराने में शायद सहायक हो जाए—मगर यह मनोभाव तो क्रांति के लिए अनिवार्य सांस्कृतिक-वैचारिक परिवेश को, क्रांतिकारी दृष्टिकोण व मानसिक गठन को जबदस्त हानि पहुंचा देता है। इसका कारण यह है कि ऐसे आम पार्टी-कार्यकर्ताओं के गंदे आचरण, बेहूदा चाल-चलन और फूहड़ हरकतों को नोट करके, आम लोग, जो कम्युनिज्म और कम्युनिस्ट विचारधारा को समझना चाहते हैं, कम्युनिज्म के खिलाफ हो जाते हैं। ऐसे पार्टी-कार्यकर्ताओं के रोजमर्रा के संपर्क-मेलजोल से वे देखते हैं कि कम्युनिज्म की बातें बनाने वाले इन कार्यकर्ताओं का बस्ती-मुहल्ले के लम्पटों (लुम्पनों) से व्यावहारिक रूप में कोई फर्क ही नहीं है—ज्ञान में, अध्ययन व शिक्षा में, बौद्धिक क्षमता में, नीति-नैतिकता में भी—सभी तरीके से वे बिल्कुल उन्हीं लुम्पनों जैसे ही हैं। जब तक किसी को पहले से ही यह पता न हो कि ऐसा एक व्यक्ति कम्युनिस्ट पार्टी का एक सदस्य है, तब तक दूसरों से उसका फर्क करने के लिए कुछ भी नजर में नहीं आता है।

बहरहाल, इस मीटिंग में अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर अधिक चर्चा करना मेरे लिए संभव नहीं है क्योंकि मुझे राष्ट्रीय स्थिति के बारे में भी कुछ दूर तक चर्चा करनी है। आपको यह याद दिलाते हुए मैं अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर

चर्चा समाप्त कर रहा हूं कि साम्यवादी आन्दोलन में वैचारिक संघर्षों में इस कमजोरी तथा नेताओं और कार्यकर्ताओं की वैचारिक चेतना के निम्न स्तर व कमियों-खामियों की वजह से समाजवादी खेमे की एकता भी भंग हो गयी है। फलस्वरूप, एक देश से दूसरे देश के लोगों के मुक्ति आन्दोलन के पीछे एक एकताबद्ध व संयुक्त स्टैंड लेने की बजाय, सिर्फ साम्राज्यवादियों के लिए लाभ उपलब्ध कराते हुए खुद समाजवादी देश फूट व बिखराव के शिकार हो गये हैं। यह सच है कि अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन में यह फूट साम्राज्यवादियों को फौरी फायदा पहुंचा रही है मगर इससे साम्राज्यवादियों के लिए उल्लसित होने के लिए कुछ भी नहीं है। उल्टे, मेरी राय में, इस स्तर पर समाजवादी खेमे में कमजोरियों का इस तरह उभर कर सामने आना एक मायने में फायदेमंद ही होगा। इस स्तर पर उन कमजोरियों के उभर कर सामने आने की बजाय, अगर वे बाद में सामने आतीं तो उससे जबरदस्त नुकसान पहुंचता। इन कमजोरियों के प्रकाश में आने की वजह से, दुनिया-भर में इस समय कम्युनिस्ट अन्तर्राष्ट्रीय सर्वहारा क्रांति की विचारधारा और सिद्धांत के निरंतर अनुशीलन और प्रयोग-व्यवहार की अनिवार्य जरूरत को महसूस कर रहे हैं। उन्हें यह अहसास होने लगा है कि सिर्फ नारेबाजी द्वारा न तो क्रांति को संगठित करना संभव है, और न ही इसके जरिये कम्युनिस्ट पार्टियों की एकता को सुनिश्चित किया जा सकता है। अगर वैचारिक चेतना के मान को लगातार उन्नत नहीं किया जा सका और सर्वहारा अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के झंडे को बुलंद नहीं रखा जा सका तो अंततः राष्ट्रीय मानसिक ग्रंथियों के आधार पर कम्युनिस्ट पार्टियाँ आपस में लड़ें-झगड़ेंगी ही। यदि उनकी चेतना एक ऐसे निम्न स्तर पर रहे, तो राष्ट्रीय मानसिक ग्रंथि के आधार पर उनका एक-दूसरे के साथ लड़ाई-झगड़ा करना अवश्यभावी है और, वस्तुतः इससे कोई बचाव ही नहीं है।

7 नवम्बर, 1967 को दिया गया
यह भाषण सर्वप्रथम ‘गणदाबी’
मुखपत्र में 22 नवम्बर, 1976
को प्रकाशित हुआ।

नोट : राष्ट्रीय स्थिति में चर्चा के अंश को छोड़ते हुए, अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर भाषण के इस अंश को ही सिर्फ ऊपर प्रकाशित किया गया है।